विवेक-ज्योति

वर्ष ३९, अंक १ जनवरी २००१ मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छत्तीसगढ़)
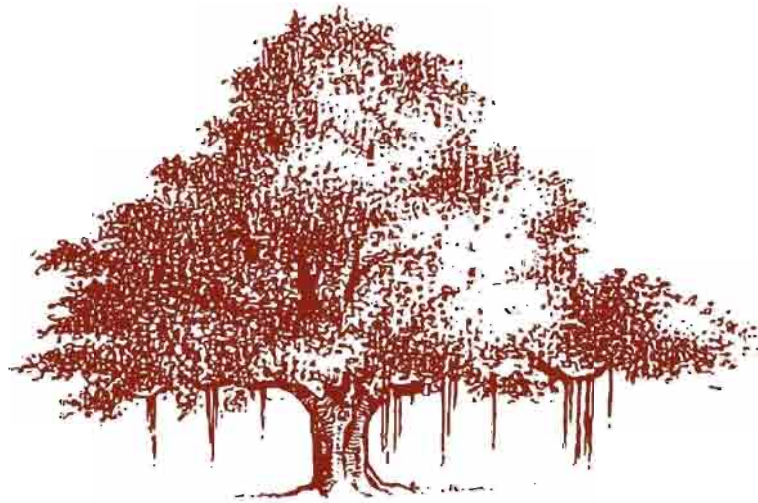
श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी, २००१

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३९

अंक १

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – ७००/-

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२५२६९, ६३६९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक -कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

वर्ष ३९ जनवरी २००१ अंक १

नीति-शतकम्

सूनुः सच्चरितः सती प्रियतमा स्वामी प्रसादोन्मुखः
स्निग्धं मित्रमवंचकः परिजनो निःक्लेशलेशं मनः ।
आकारो रुचिरः स्थिरश्च विभवो विद्यावदातं मुखं
तुष्टे विष्टपकष्टहारिणि हरौ सम्प्राप्यते देहिना ।।२५।।

अन्वय – विष्टप-कष्ट-हारिणि हरौ तुष्टे सति, देहिना सच्चरितः सूनुः, सती प्रियतमा, प्रसादोन्मुखः स्वामी, स्निग्धं मित्रम्, अवंचकः परिजनः, निःक्लेशलेशं मनः, रुचिरः आकारः, स्थिरः विभवः, विद्यावदातं मुखं च सम्प्राप्यते ।

भावार्थ – संसार के कष्ट दूर करनेवाले हरि के प्रसन्न हो जाने पर, मनुष्य को सदाचारी पुत्र, पतिव्रता धर्मपत्नी, प्रसन्न रहनेवाला मालिक, स्नेहयुक्त मित्र, धोखा न देनेवाले सेवक, क्लेश-रहित मन, सुन्दर रूप, स्थिर रहनेवाली सम्पदा और विद्या से निर्मल मुख की प्राप्ति होती है।

प्राणघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम् ।
तृष्णास्रोतोविभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ।।२६।।

अन्वय – प्राणघातात् निवृतिः, परधनहरणे संयमः, सत्यवाक्यम्, काले शक्त्या प्रदानम्, परेषां युवतिजनकथामूकभावः, तृष्णास्त्रोतोविभंगः गुरुषु विनयः, सर्वभूतानुकम्पा च, एषः सर्वशास्त्रेषु अनुपहतविधिः सामान्यः श्रेयसां पन्थाः ।

भावार्थ – प्राणियों को कष्ट पहुँचाने से विरति, दूसरों का धन हरने में संयम, सत्य वाणी, उचित समय पर अपनी क्षमता के अनुसार दान, पर-नारियो की चर्चा में मौन धारण, तृष्णा के प्रवाह को रोकना और सभी जीवों के प्रति दयाभाव – कल्याण-मार्ग का यह समस्त शास्त्रों में निरूपित अखण्डनीय विधान है ।

– भर्तृहरि

गीति-वन्दना

– १ –

(तर्ज - ॐ जय जगदीश हरे)

(जय) रामकृष्ण भगवान, जय रामकृष्ण भगवान ।
गावत तव महिमानम्, ध्यावत सकल जहान ।
(जय) रामकृष्ण भगवान ।।१।। जय. ।।

खण्डन करने को भव-बन्धन,
आये तुम जग में, प्रभु, आये तुम जग में,
ब्रह्मतत्त्व दिखलाया, निज देखा सबमें ।।
(जय) रामकृष्ण भगवान ।।२।। जय. ।।

निर्धन-धनिक, अज्ञ-पण्डित,
दुर्जन या सज्जन हो, दुर्जन या सज्जन हो,
शरण तुम्हारी जो भी आए, अपनाते सबको ।।
(जय) रामकृष्ण भगवान ।।३।। जय. ।।

कल्पवृक्ष हो तुम भक्तों के,
चारों फल दाता, प्रभु, चारों फल दाता,
तुमसे जो भी माँगे, सब कुछ पा जाता ।।
(जय) रामकृष्ण भगवान ।।४।। जय. ।।

– २ –

(मालकौंस-कहरवा)

हे युगनायक संन्यासीवर ।
भवभ्रान्ति तिमिर नाशन भास्कर ।।

वेदान्त केसरी बलबोधक,
चिर अभीः अभीः के उद्घोषक,
विचरे तुम निर्भय अवनी पर ।।

मानव की सेवा परम धर्म,
सिखलाया तुमने कर्म मर्म,
निज पीड़ित जन की सेवा कर ।।

पा धरणी धन्य हुई तुमको,
नवजीवन लाभ हुआ सबको,
तुम नित्यमुक्त नरकायाधर ।।

– विदेह

शक्तिदायी विचार (१)

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के शक्तिदायी विचार उनकी सम्पूर्ण ग्रन्थावली मे बिखरे पड़े हैं। उन्हीं से संकलित होकर अंग्रेजी मे Thoughts of Power नाम से एक छोटी-सी पुस्तिका निकली है। अनेक भाषाओं मे अनूदित होकर वह अत्यन्त लोकप्रिय भी हुई है। प्रस्तुत है उसी का एक नया अविकल अनुवाद। – सं.)

विश्वास और शक्ति

* तुम ईश्वर की सन्तान, अमर आनन्द के भागीदार, पवित्र तथा पूर्ण आत्मा हो; इस मर्त्यलोक के देवता हो। तुम भला पापी? मनुष्य को पापी कहना ही पाप है, यह मानव-स्वरूप पर घोर लांछन है। ऐ सिंहो! उठो! और अपने भेड़ होने के मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो। तुम नित्य, मुक्त, धन्य तथा शाश्वत स्वभाववाले आत्मा हो! तुम जड़ नहीं हो, देह नही हो; तुम जड़ के दास नहीं, वरन् जड़ ही तुम्हारा दास है।

* जिसमें आत्मविश्वास नहीं, वही नास्तिक है। प्राचीन धर्मो के अनुसार जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, वह नास्तिक है; और नवीन धर्म कहता है – स्वयं मे विश्वास न रखनेवाला ही नास्तिक है।

* विश्वास! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा में विश्वास – यही महानता का एकमात्र रहस्य है। यदि पुराणों में कथित तैंतीस करोड़ देवताओ और विदेशियों द्वारा लाये हुए समस्त देवताओं पर भी तुम्हारा विश्वास है, परन्तु अपने आप पर विश्वास नही है, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। अपने आप पर श्रद्धा करना सीखो। इसी आत्मश्रद्धा के बल से अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और बलवान बनो।

* सफलता प्राप्त करना हो, तो सतत प्रयत्न होना चाहिए, प्रबल इच्छाशक्ति होनी चाहिए। दृढ़प्रतिज्ञ व्यक्ति कहता है, "मै समुद्र पी जाऊँगा। मेरी इच्छा मात्र से पर्वत चूर चूर हो जायेगे।" इस प्रकार का तेज, ऐसा दृढ़ संकल्प लेकर कठोर परिश्रम करो और तुम लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करोगे।

* यह एक महान् सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है। बल ही अनन्त सुख है, अमर और शाश्वत जीवन है और दुर्बलता ही मृत्यु है।

* संसार को बस कुछ सौ साहसी नर-नारियों की जरूरत है। अपने मे वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन मे निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से डरने के स्थान पर उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् मे ऐसी कोई भी वस्तु नही, जो उनका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे।

* कर्म करना बहुत अच्छा है, पर वह भी चिन्तन से होता है। अत: अपने मस्तिष्क को उच्च विचारो तथा सर्वोच्च आदर्शों से भर लो और उन्हें दिन-रात मन के सम्मुख रखो, ऐसा होने पर इन्हीं विचारो से बड़े बड़े कार्य होगे।

* संसार के अत्याचारों तथा पापों की बात मन में न लाओ, बल्कि रोओ कि तुम्हें जगत् में अब भी पाप दिखता है, कि तुम्हे अब भी सर्वत्र अत्याचार दिखता है। और यदि तुम जगत् का भला करना चाहते हो, तो इस पर दोषारोपण छोड़ दो। इसे और भी दुर्बल मत करो। आखिर ये सब पाप, दु:ख आदि हैं क्या? ये सब दुर्बलता के ही फल हैं। लोग बचपन से ही शिक्षा पाते है कि वे दुर्बल हैं, पापी हैं। ऐसी शिक्षा के फलस्वरूप ही संसार दिन-पर-दिन दुर्बल होता जा रहा है।

* बचपन से ही सकारात्मक, सबल तथा उपयोगी विचार मस्तिष्क में प्रविष्ट हो जायँ। अपने मन को ऐसे विचारों के लिए खुला रखो, न कि दुर्बलता और अवसादकारक विचारों के लिए।

* असफलताओं की परवाह मत करो; वे बिल्कुल स्वाभाविक हैं। असफलताएँ मानव-जीवन का सौन्दर्य है। इनके बिना जीवन क्या होता? जीवन में संघर्ष न होने पर इसकी सार्थकता ही क्या होती, जीवन का कवित्व ही कहाँ रहता? इन संघर्षो तथा भूलो की चिन्ता मत करो। मैने किसी गाय को कभी झूठ बोलते नही सुना, पर वह सदा गाय ही रहती है, मनुष्य नहीं हो पाती। अत: इन असफलताओं, छोटी-मोटी फिसलनों पर ध्यान मत दो; हजार बार आदर्श को पकड़ो और हजार बार असफल हो जाने पर भी एक बार पुन: प्रयास करो।

* ब्रह्माण्ड की समूची शक्तियाँ हममें पहले से ही विद्यमान हैं। हम स्वयं ही अपने नेत्रों के आगे हाथ रखकर 'अँधेरा है, अँधेरा है' चिल्लाते रहते हैं। समझ लो कि हमारे चारों ओर जरा भी अँधेरा नहीं है। हाथ हटाते ही तुम देखोगे कि वहाँ पहले से ही प्रकाश विद्यमान है। अन्धकार का, दुर्बलता का कभी अस्तित्व ही नहीं था। हम अपनी मूर्खता के कारण ही स्वयं को दुर्बल कहकर चिल्लाते हैं, अपनी मूर्खता के कारण ही स्वयं को अपवित्र कहकर चिल्लाते हैं।

* दुर्बलता का नहीं, बल्कि बल का चिन्तन करना ही दुर्बलता का इलाज है। मनुष्य में पहले से ही जो शक्ति विद्यमान है, उसकी उसे याद दिला दो।

* आत्मविश्वास का आदर्श ही हमारा सर्वश्रेष्ठ सहायक

है। यदि संसार में इस आत्मविश्वास का और भी विस्तृत रूप से प्रचार हुआ होता और इसे कार्यरूप में परिणत किया जाता, तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि जगत् में जितने दु:ख तथा बुराइयाँ हैं, उनका अधिकांश दूर हो गया होता ।

* मानव जाति के समग्र इतिहास में सभी महान् स्त्री-पुरुषों में यदि कोई प्रेरणा सर्वाधिक सबल रूप से कार्य करती रही है, तो वह आत्मविश्वास ही है । उन्हें सर्वदा यह बोध था कि वे महान् बनने के लिए पैदा हुए हैं और वे महान् बने भी ।

* मनुष्य चाहे कितनी ही गिरी हुई अवस्था में क्यों न पहुँच जाय, एक समय ऐसा अवश्य आता है, जब वह घोर निराशा से त्रस्त होकर ऊपर की ओर मुड़ेगा और अपने आप पर विश्वास करना सीखेगा । परन्तु हमारे लिए पहले से ही इसे जान लेना अच्छा है । आत्मविश्वास सीखने के लिए हमें इतने कटु अनुभवों से होकर गुजरने की क्या आवश्यकता है?

* हम देखते हैं कि मनुष्य मनुष्य के बीच जो इतना भेद है, वह केवल आत्मविश्वास होने तथा उसके अभाव के फलस्वरूप ही है । अपने आप में विश्वास हो, तो सब कुछ हो सकता है। मैंने अपने जीवन में इसका अनुभव किया है, अब भी कर रहा हूँ; और ज्यों ज्यों मेरी आयु बढ़ती जा रही है, त्यों त्यों मेरा यह विश्वास दृढ़तर होता जा रहा है ।

* क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे इस शरीर में अब भी कितनी ऊर्जा, कितनी शक्तियाँ और कितने प्रकार के बल छिपे पड़े हैं? मनुष्य में जो कुछ निहित है, वह भला किस वैज्ञानिक को ज्ञात हो सका है? मनुष्य लाखों वर्ष पूर्व सर्वप्रथम पृथ्वी पर प्रकट हुआ, पर अब भी उसकी शक्तियों का अणु मात्र अंश ही व्यक्त हो सका है । अत: तुम स्वयं को दुर्बल मत कहो । तुम क्या जानो कि सतह पर दिखनेवाली इस पतितावस्था के पीछे क्या सम्भावनाएँ विद्यमान हैं? तुम अपने भीतर का बहुत थोड़ा ही जानते हो, क्योंकि तुम्हारे पीछे शक्ति तथा धन्यता का अपार सागर विद्यमान है ।

* यदि 'जड़' शक्तिशाली है, तो 'विचार' सर्वशक्तिमान है। इस विचार को अपने जीवन में क्रियाशील बनाओ और स्वयं को अपनी सर्वशक्तिमत्ता, महिमा तथा गौरव के भाव से भर लो । काश, तुम्हारे मस्तिष्क में कोई अन्धविश्वास न घुस पाता! काश, हम जन्म से ही इन अन्धविश्वासपूर्ण प्रभावों और अपनी दुर्बलता व नीचता के विध्वंसक भावों से घिरे न होते!

* सोचकर देखो – तुम अमीबा से इतने बड़े मनुष्य हो गये। यह सब किसने किया? तुम्हारी अपनी इच्छाशक्ति ने ही। क्या तुम इच्छाशक्ति की सर्वशक्तिमत्ता को अस्वीकार कर सकते हो? जिसने तुम्हें इतना उन्नत बना दिया, वह तुम्हें और भी अधिक उन्नत कर सकती है । तुम्हें आवश्यकता है तो केवल चरित्र की और इच्छाशक्ति को सबल बनाने की ।

* उपनिषदो में यदि कोई ऐसा शब्द है, जो वज्र के समान अज्ञान-राशि के ऊपर गिरकर उसे बिल्कुल उड़ा देता है, तो वह है 'अभी:' – निर्भयता । संसार को यदि किसी एक धर्म की शिक्षा देनी हो, तो वह है – 'निर्भयता' । सच तो यह है कि इस ऐहिक जगत् में हो या धर्म-जगत् में, भय ही पतन एवं पाप का निश्चित कारण है । भय ही दु:ख लाता है, भय ही मृत्यु लाता है और भय ही बुराई लाता है ।

* अपने स्नायुओं को मजबूत बनाओ । आज हमें लोहे के पुट्ठों तथा फौलाद के स्नायुओ की जरूरत है । हम बहुत दिन रो चुके हैं । अब और रोने की आवश्कता नहीं, बल्कि अब अपने पैरों पर खड़े हो जाओ और 'मर्द' बनो ।

* सर्वप्रथम तो हमारे युवकों को बलवान बनना होगा । धर्म बाद में आयेगा । मेरे युवा मित्रो! तुम बलवान बनो । मेरी तुमको यही सलाह है । गीतापाठ की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक निकट पहुँच सकोगे । ये बड़े बेधड़क शब्द हैं, परन्तु इन्हें कहना जरूरी है, क्योंकि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ । मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है । मुझे इसका कुछ अनुभव प्राप्त है । मजबूत बाहुओं तथा सुदृढ़ पेशियों के साथ तुम गीता को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे । शरीर में ताजा रक्त प्रवाहित होने पर तुम श्रीकृष्ण की महती प्रतिभा तथा उनकी अप्रतिम शक्तिमत्ता को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे । जब तुम्हारा शरीर दृढ़तापूर्वक तुम्हारे पैरों के बल खड़ा होगा, जब तुम स्वयं को 'मनुष्य' अनुभव करोगे, तभी तुम उपनिषद् और आत्मा की महिमा को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे ।

* मनुष्य – केवल मनुष्य भर चाहिए; बाकी सब कुछ अपने आप ही हो जायेगा । जरूरत है तो बस सबल, उत्साही, आस्थावान और दिल के सच्चे नवयुवकों की । यदि ऐसे सौ भी मिल जायँ, तो संसार का कायापलट हो जायेगा ।

* संसार में इच्छाशक्ति ही सर्वाधिक बलवती है । इसके सामने दुनिया की कोई चीज नहीं ठहर सकती; क्योंकि यह ईश्वर – स्वयं ईश्वर से ही आती है । शुद्ध और सुदृढ़ इच्छा सर्वशक्तिमान है । क्या तुम्हारा इस पर विश्वास है?

* ज्यों ज्यों मेरी आयु बढ़ती जाती है, त्यों त्यों मुझे सब कुछ 'पौरुष' में ही निहित प्रतीत होता है । यही मेरा अभिनव सन्देश है । बुराई भी करो, तो मनुष्य की भाँति करो । दुष्ट ही बनना हो, तो उच्च स्तर के बनो ।

❖ (क्रमश:) ❖
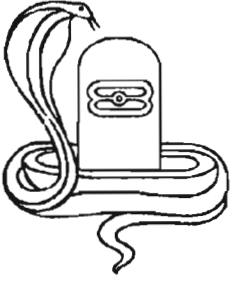
शिवमहिम्नःस्तोत्रम् (१)

स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज

(भगवान शिव के समस्त स्तोत्रों में 'शिवमहिम्न' ही सर्वाधिक लोकप्रिय है । फिर शिखरिणी छन्द में होने के कारण यह अत्यन्त गेय भी है । आज इसमें ४० श्लोक मिलते है, परन्तु इन्दौर के पास नर्मदा तट पर स्थित अमरेश्वर महादेव के मन्दिर में १०६३ ई. में खुदे हुए इसके प्रारम्भिक ३१ श्लोक ही मिलते है । १०वी शताब्दी के प्रारम्भ लिखित राजशेखर कृत 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ में इसका पाँचवाँ श्लोक उद्धृत हुआ है, इससे लगता है कि उस काल में ही यह स्तोत्र अत्यन्त प्रचलित हो चुका था । मधुसूदन सरस्वती ने केवल ३२ श्लोको पर ही टीका की रचना की है । इससे लगता है कि प्रारम्भ मे इसमे ३१ श्लोक ही थे और बाद में क्रमशः ९ श्लोक और भी जुड़ गये, जिनमे कुछ तो स्तोत्र की महिमा विषयक ही है । वैसे यह 'पुष्पदन्त' नामक गन्धर्व की रचना मानी जाती है, परन्तु दक्षिण भारत में प्राप्त होनेवाली अनेक प्रतियों मे पं. कुमारिल भट्टाचार्य को इसका रचयिता बताया गया है । रामकृष्ण मठ तथा मिशन के बारहवे अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज द्वारा की हुई इसकी व्याख्या बँगला मासिक 'उद्बोधन' के फरवरी-मई १९९८ के अंको से प्रकाशित हुई थी । वहीं से रामकृष्ण संघ के स्वामी चिरन्तनानन्द जी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है, जिसे हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठो में क्रमशः मुद्रित करेंगे । – सं.)

महादेव-विषयक इस अद्वितीय 'महिम्नःस्तोत्रम्' की रचना के साथ एक कथा जुड़ी हुई है । कहते हैं कि गन्धर्वराज पुष्पदन्त प्रतिदिन किसी राजा के समृद्ध पुष्पोद्यान में फूल चुनने जाते थे । पुष्पप्रेमी राजा सुबह वृक्षों को पुष्पहीन देखकर हृदय में पीड़ा अनुभव करते । इसके निराकरण के लिए उन्होने पूरे उद्यान में सजग प्रहरियों को नियुक्त कर दिया । पर राजा की यह चेष्टा व्यर्थ गई, वे पुष्पों की चोरी पर विराम नहीं लगा सके, क्योंकि फूलों को ले जानेवाले पुष्पदन्त एक गन्धर्व होने के कारण अपनी जन्मजात अन्तर्धान होने की शक्ति के प्रभाव से मानवों की दृष्टि से ओझल रहकर अपने मनोवांछित कार्य पूरा करने में सक्षम थे । परन्तु राजा भी हारनेवाले नही थे । काफी सोच-विचार के बाद उन्होंने एक उपाय ढूँढ़ निकाला । तदनुसार एक दिन उन्होंने उद्यान के चारों ओर शिव को चढ़ाया हुआ निर्माल्य-पुष्प बिखेरकर रख दिया । निर्माल्य देवतामय तथा देवता के ही तेज से समृद्ध होता है । अगले दिन भोर में फूल चुनते समय पुष्पदन्त अनजाने में ही पवित्र निर्माल्य को लाँघने तथा उस पर पैर रखने के दोषी हो गये । इस पाप के फलस्वरूप उनकी गन्धर्वोचित शक्ति चली गयी । तब पुष्पदन्त ने व्यथित होकर अपनी शक्ति को पुनः पाने हेतु जो आकुल प्रार्थना की थी, यह उसी का वाङ्मय रूप है ।

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी ।
स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवमन्नास्त्वयि गिरः ।
अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्
ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः ।।१।।

– यदि तुम्हारी महिमा की चरम सीमा अर्थात् स्वरूप को जाने बिना यदि तुम्हारी स्तुति करना अनुचित है, तब तो ब्रह्मादि द्वारा तुम्हारे सम्बन्ध में उच्चरित वाणी रूप स्तुति भी अनुपयुक्त ही है, क्योकि वे भी तो तुम्हारे स्वरूप से अनभिज्ञ हैं । तुम्हारे विषय मे बोलते समय उनकी भी वाणी कुण्ठित हो जाती है । दूसरी ओर यह भी मान्यता है कि सभी तुमको अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थात् जिसकी बुद्धि में तुम जिस भाव से प्रतिभासित होते हो, उसी को वे तुम्हारा स्वरूप समझकर अपनी बुद्धि-सामर्थ्य के अनुसार स्तुति करते हुए निन्दनीय नहीं होते । अतः हे दुःखहारी परमेश्वर! तुम्हारी स्तोत्र-रचना करने का मेरा यह प्रयास भी निन्दा के योग्य नहीं होगा, क्योंकि तुम्हारे स्वरूप या महिमा को जानकर तुम्हारी स्तुति करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है; तुम सभी के बोध के परे हो ।

सर्वोत्कृष्ट शास्त्र वेद भी महादेव के यथार्थ स्वरूप-उद्घाटन करने में असमर्थ हैं; अतएव हम उनके पुराणों में वर्णित रूप के निरूपण में ही स्वयं को लगायेंगे ।

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतदव्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।
स कस्य स्तोव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः
पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य वचः ।।२।।

– मन और वाणी जितनी दूर जा सकती है, तुम्हारी महिमा उससे भी परे है; क्योकि तुम अनन्त और निर्गुण हो । अपौरुषेय वेद भी तुम्हारी महिमा के बारे में बोलते समय मानो भयचकित होकर 'वे यह नही हैं, वे वह नहीं हैं' या 'चूँकि उनके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है, अतः वे सबसे अभिन्न हैं' – आदि बातें कहते है; क्योकि श्रुति को भय है कि कहीं बोलने के प्रयास में कहीं उन्हें छोटा न कर बैठूँ, उनके स्वरूप के बारे में कही अपनी अज्ञानता न प्रकट कर बैठूँ! या फिर 'जो स्वयंप्रकाश हैं, उन्हे मैं कैसे प्रकट करूँगी! फिर तुम्हारी वह महिमा भला किसकी स्तुति का विषय हो सकता है? सगुण होकर भी तुम स्तवनीय नही हो, क्योकि तुम्हारे गुण अनन्त हैं । अपने निर्गुण-स्वरूप में तो तुम पूर्णतः अविषयी हो, अतः स्तुति के विषय ही नही हो सकते ।

अब प्रश्न उठता है कि सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों में वे स्तुति के अयोग्य होने से यहाँ पिछले श्लोक के साथ विरोध

देखने में आ रहा है, क्योंकि वहाँ कहा गया है – अपनी बुद्धि की सामर्थ्य के अनुसार उनकी स्तुति करके कोई निन्दनीय नहीं होता। अत: समाधान हेतु पुष्पदन्त कहते हैं – **पदे त्वर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः** – तुम्हारी महिमा स्तुति के अतीत होने पर भी भक्तानुग्रह हेतु लीला करने के लिए गृहीत तुम्हारे वर्तमान अर्थात् पुराणप्रसिद्ध वृषभवाहन, पिनाकधारी आदि साकार रूप की स्तुति और चिन्तन में किसका मन और वाणी प्रवृत्त नही होगी? अर्थात् सभी तुम्हारे सगुण-साकार रूप की स्तुति में उन्मुख हैं। तुम्हारी स्तुति मे मेरी यह चेष्टा केवल अपनी वाणी को पवित्र करने की अभिलाषा से ही है।

मधुस्फीता वाचः परमममृतं निर्मितवत-
स्तव ब्रह्मन्किं वागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्।
मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता।।३।।

– हे विभो, तुम शब्द और अर्थगत माधुर्यपूर्ण, परम अमृत स्वरूप या अमृत के समान आस्वादनीय वेदवाक्य के प्रकाशक हो। देवगुरु बृहस्पति अथवा देवताओं में सर्वप्रथम आविर्भूत सर्वाग्रगण्य ब्रह्मा की वाणी भी क्या रचनानिपुण तुम्हारे लिए अति आश्चर्य, मनोमुग्धकर रूप में प्रतीत हो सकती है?

आक्षेप से समझ में आया कि ऐसा कभी भी सम्भव नहीं है। ऐसी जब स्थिति है तब मैं तुम्हारे सम्बन्ध में किस साहस से बोलने जा रहा हूँ? तुम मेरी वाणी के द्वारा प्रत्यक्ष होओगे, इसलिए अथवा तुम्हारे मनोरंजन के लिए यह स्तुति नहीं कर रहा हूँ, बल्कि – **मम त्वेतां वाणीं गुणकथन-पुण्येन भवतः पुनामि** – तुम्हारे गुण कीर्तन से उत्पन्न पुण्य के द्वारा मेरी वाणी पवित्र होगी – इसी अभिप्राय से मेरा मन इस कार्य में तत्पर हुआ है। वाणीशुद्धि के साथ चित्तशुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हे त्रिपुरारि! इसी कारण ही मेरा यह प्रयास है।

जड़बुद्धिवालों का ऐसा स्वभाव है कि वे जगत् के सृजन-पालन विषयक तुम्हारी समुन्नत महिमा को भी छोटा करने में कुण्ठित नहीं होते। परवर्ती कुछ श्लोकों में पुष्पदन्त इसी विषय को प्रकट कर रहे हैं –

तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्
त्रयी वस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु।
अभव्यानामस्मिन् वरद रमणीयामरमणीं
विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः।।४।।

– हे अभीष्टदाता! तुम्हारी ईश्वरीय शक्ति ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार करती रहती हैं और वेद उसी ऐश्वर्य का जयगान करते हैं अर्थात् तुम्हारी महिमा ही तीनों वेदों का प्रतिपाद्य है। सत्व, रज एवं तम – इन तीन गुणों से निर्मित ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर-रूप त्रिविध मूर्ति में तुम्हारी महिमा ही प्रकटित है। सर्वविध प्रमाण के द्वारा निश्चित तुम्हारी ऐसी जो महिमा है, उसे छोटा बनाने के लिए कुछ मन्दबुद्धि व्यक्तियों का दल व्यर्थ ही गर्व करता रहता है तथा तीनों लोकों में इन अभागों का अहंकार स्वयं के लिए परम आकर्षणीय होने पर भी वस्तुत: वह निन्दनीय ही है। विचारशील व्यक्तियों के पास उनकी युक्ति की कोई सार्थकता नहीं है।

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च।
अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः।।५।।

– जगत् को भ्रमित करने के लिये इस प्रकार के कुतर्कों का कोई आधार तथा स्थान नहीं है; तथापि यह किसी किसी मूढ़ व्यक्ति को बातूनी बना देता है अर्थात् जो तुम्हारी महिमा पूरी तौर से प्रश्नातीत है, उसी विषय में विवाद खड़ा करने को उन्हें बैचेन कर देता है। यथा, वे कहते हैं – त्रिभुवन के स्रष्टा परमेश्वर में भला चेष्टा कैसी, या वह शरीर कैसा है, जिसके द्वारा वे ऐसी चेष्टा करते हैं; और उस चेष्टा में उन्होंने किस सहकारी साधन का आश्रय लिया है; किस आधार अथवा आश्रय का अवलम्बन करके वे यह सृष्टि-कर्म करते हैं और किस उपकरण द्वारा वे जगत् की सृष्टि करते हैं आदि आदि।

वे लोग कहते हैं – भगवान ने इस जगत् की सृष्टि कैसे की, उनका प्रयत्न किस तरह का था? जगत् की सृष्टि करना तो इतना सहज नहीं है। कुम्हार द्वारा हण्डी गढ़ने की प्रक्रिया को हम समझ सकते हैं, परन्तु भगवान ने किस प्रकार जगत् की सृष्टि की? फिर कुम्हार तो देहधारी है और जब भगवान ने सृष्टि की तब उनका शरीर कैसा था? अशरीरी होकर तो कोई सृष्टि कर नहीं सकता। तो फिर उन्होंने कैसा शरीर (कर्ता) धारण करके, किस उपकरण के द्वारा, किस पात्र को आधार (अधिकरण) बनाकर जगत्सृष्टि की और इस सृष्टि का उपादान भी क्या था? कुम्हार चाक को घुमाकर मिट्टी के लौदे से हँड़ी तैयार करता है, पर ईश्वर की सृष्टि का उपादान क्या है? और निमित्त कारण भी क्या है? कहने का उद्देश्य है – जगत्सृष्टि के लिए यदि कोई उपादान है, तब तो वे उसी से सृष्टि करेंगे और यदि कोई उपादान नहीं है, तो फिर किससे सृष्टि करेंगे? कुम्हार तो चाक के आधार पर मिट्टी का लौंदा रखकर घड़ा तैयार करता है। ईश्वर ने जगत् के उपादान को किस जगह रखकर जगत्-सृष्टि की? अर्थात् प्रलय के बाद जिस नये जगत् की सृष्टि की, उसका आधार क्या है? क्या वह आधार-शून्य है? जगत्स्रष्टा ईश्वर के विरुद्ध यही सब तर्क प्रस्तुत किया जाता है – उपकरण नहीं है, उपादान नहीं है, शरीर नहीं है, शरीर की क्रिया नहीं है – तो फिर सृष्टि होगी कैसे? यह असम्भव है। यदि कहें कि घट के निर्माता कुम्हार के समान ही एक जगत्स्रष्टा ईश्वर हैं, तब तो वे साधारण मनुष्य हो जाने के कारण ईश्वर नहीं बन सकेंगे। और ईश्वर का यह

सब गुण न रहने से वे जगन्निर्माता ही फिर कैसे बनेंगे?

ये तर्क सुनने से लगता है कि यह सब ठीक ही तो है। परन्तु यह सब शुद्ध तर्क नहीं, कुतर्क है। तुम तर्कातीत हो, किन्तु दुर्बुद्धि सम्पन्न कोई कोई तुम्हारे सम्बन्ध में इस तरह के कुतर्क मे मुखर होते है। वे ऐसी बातें क्यो कहते हैं? **मोहाय जगतः** – जगत् को मोहग्रस्त, भ्रान्त करने हेतु। इन्हें सुनकर लोग सोचेगे कि ये बाते युक्तियुक्त हैं। पर ये लोग वास्तविक तर्क न जानकर विपरीत तर्क करके ऐसी बातें कहते हैं।

इसके बाद पुष्पदन्त कह रहे हैं, **अतर्क्यैश्वर्ये** – तुम्हारा ऐश्वर्य या विभूति तर्क के परे है, क्योकि तुम प्रमाण-निरपेक्ष हो, स्वयंसिद्ध हो। इसके बावजूद जो लोग तुम्हारे ऐश्वर्य के बारे मे तर्क करते हैं, वे बुद्धिहीन हैं। उनकी बुद्धि तुम्हारे स्वरूप को पकड़ नही सकती, क्योकि तुम तर्क के अगोचर हो, अतः कुतर्क तुम्हारे भीतर ठहरने का कोई मौका **न** पाकर नष्ट हो जाता है – **त्वय्यनवसरदुःस्थो**। यदि मान भी लिया जाय कि उनके तर्क में कुछ सत्यता है तो फिर उनके विरुद्ध अन्य तर्क भी हैं –

> **अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-**
> **मधिष्ठातारं किं भवतिधिरनादृत्य भवति।**
> **अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो**
> **यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥६॥**

यदि मान ले कि इस तरह का सृष्टिकर्ता नहीं हो सकता, तो फिर **अजन्मानो लोकाः किम्** – चतुर्दश भुवन क्या जन्म-रहित हैं? क्या कहना होगा कि स्रष्टा के अभाव में एकदम ही सृष्टि न होने से जगत् जन्मरहित है। फिर **अवयववन्तोऽपि** – जो वस्तु अवयवयुक्त है अर्थात् विभिन्न पदार्थो के मेल या योग से उत्पन्न हुई है, वह जन्मरहित नहीं हो सकती, क्योंकि सभी सावयव वस्तुएँ जन्म-विशिष्ट हैं अर्थात् कभी-न-कभी उनका जन्म अवश्य हुआ होगा। जगत् क्या विभिन्न वस्तुओं की समष्टि नही है? इस के भीतर पंचभूत हैं; रूप, रस, स्पर्श, शब्द, गन्ध इत्यादि गुण हैं। इन सबके होने पर भी क्या वह सृष्टिरहित हो सकता है?

एक दृष्टान्त है – एक जंगल में घूमते घूमते हमें अचानक ही एक सुसज्जित सूना मकान दिखाई देता है। देखते ही हमें लगेगा कि इसका कोई मालिक है, जिसने विभिन्न उपादानों को एकत्र कर मकान का निर्माण किया है। वैसे ही जब जगत् को विभिन्न वस्तुओं के समष्टि रूप मे देखा जा रहा है, तब इसका कोई सृष्टिकर्ता अवश्य होगा। उस स्रष्टा का रूप कैसा है? ठीक है इसे अभी छोड़ देते हैं, पर किसी स्रष्टा को तो मानना ही पड़ेगा न। स्रष्टा नही होने से अवयवों का मिश्रण किसने किया? यदि कहे कि यह सब प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है, तो प्रश्न उठेगा – प्रकृति क्या है? उस प्रकृति की सृष्टि किसने की? अतः जब हम विभिन्न उपादानों से निर्मित कोई चीज देखते हैं, तो उसके स्रष्टा को भी मानना पड़ता है। संक्षेप में कहें तो – जगत् उत्पन्न हुआ है, दूसरी बात यह कि उसे बनानेवाला कोई उत्पादक होगा। यदि भगवान न हों, तो क्या यह जगत् ऐसे ही हुआ है? कर्ता के बिना यह कैसे हुआ? ईश्वर को छोड़ किसमे इस जगत्-रचना की सामर्थ्य है? अतः हमें भगवान तथा उनकी उसकी नियंत्रण-शक्ति को मानना पड़ता है और यह भी मानना पड़ता है कि उसी नियंत्रण-शक्ति के द्वारा इस जगत् की रचना हुई है।

प्रश्न है कि ईश को छोड़कर क्या जीव स्रष्टा हो सकता है? यदि हाँ, तब तो इस स्रष्टा को सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान होना होगा, क्योकि हम लोग उसी को तो ईश्वर कहते है। अतः ईश्वर को नही मानने से जगत् की सृष्टि-कल्पना नहीं की जा सकती। पराधीन जीव यदि जगत्स्रष्टा हो, तो फिर सृष्टि रचने के लिए परिकर अर्थात् उपादान या साजो-सामान उसे कहाँ से मिलेगा? जीव अनीश्वर होने से वह किस तरह इस वैचित्र्यमय चौदह भुवनो की रचना में उद्योगी होगा? इन अकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्ध सृष्टिकर्ता ईश्वर के अस्तित्व के विषय में केवल वे ही लोग संशय प्रकट करते हैं, क्योंकि हे देवाधिदेव! वे मन्दबुद्धि हैं। ये युक्तियाँ उनकी बुद्धि में प्रतिभात नहीं होतीं।

धर्मपथ अनेक रूपों में विभक्त है एवं दार्शनिक चर्चा द्वारा उसमें काफी विविधता होने पर भी सब का लक्ष्य तुम ही हो –

> **त्रयी साख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति**
> **प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च**
> **रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां**
> **नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥७॥**

मान लिया कोई ईश्वर है, परन्तु उनके बारे में इतने अलग अलग मतवाद क्यों हैं? जिन दूसरी चीजों के अस्तित्व के विषय में हम जानते हैं, उनके बारे में तो इतने सारे मतवाद प्रचलित नही हैं, किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में कितने मतवाद हैं! पुष्पदन्त कहते हैं – इसका समुचित कारण तथा प्रयोजन है। वेद, सांख्य, योग, शैवमत, वैष्णवमत – ये सब **प्रभिन्ने प्रस्थाने** अर्थात् भिन्न भिन्न पथ हैं। अपने अपने संस्कार या रुचि के अनुसार इनमें से प्रत्येक चलने योग्य है। कोई कहता है – इन विभिन्न मार्गो मे से यह श्रेष्ठ है और कोई किसी दूसरे को हितकारी बताता है – **परम् इदम् अदःपथ्यम्**। मनुष्य अलग अलग है, इनके लिए भिन्न भिन्न पथो की आवश्यकता है – **रुचीनां वैचित्र्याद्** – रुचि की विभिन्नता या मन की अनुकूलता के अनुसार विभिन्न मनुष्य विभिन्न पथ से होकर अर्थात् अपनी रुचि के अनुरूप पथ का आश्रय लेकर तुम्हारे ही पास पहुँचता है। सबका गन्तव्य एक ही है। दृष्टान्त देते हैं – **पयसामर्णव इव**। जैसे जलधारा विभिन्न पथों से होकर

टेढ़ी-मेढ़ी गति से जाती है, पर उसकी अन्तिम गति समुद्र है, उसी प्रकार अलग अलग रास्ते से होकर मनुष्य अन्त में तुम्हारे ही पास पहुँचता है । पथ की विभिन्नता होने पर भी विभ्रान्त होने का कोई कारण नहीं है । उपनिषद ने कहा है – **सर्वसामपां समुद्र एकायनम्** (बृह.२/४/११) – सकल जल का एकमात्र अयन – गन्तव्य समुद्र ही है । सीधे रास्ते से न होने पर भी, विभिन्न रास्तों से होकर सभी नदियाँ समुद्र में ही जाकर समाप्त होती हैं । पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण सब ओर से सीधे, टेढ़े विभिन्न पथों से वही धारा प्रवाहित होती है; बहती बहती अन्ततः समुद्र में पहुँचकर ही विराम लेती हैं, समाप्त होती है; वैसे ही मनुष्य भी रुचिभेद से भिन्न भिन्न पथों पर चलता है, तथापि सभी के एकमात्र लक्ष्य तुम्हीं हो । कोई सीधे जाकर वहाँ पहुँचता है और कोई क्रमशः थोड़ा घूम-फिरकर वहीं जाकर मिलता है । जैसे गंगा आदि नदियाँ सीधे समुद्र में जाकर मिलती हैं, परन्तु सरयू आदि छोटी नदियाँ घूम-फिरकर अन्त में गंगा अथवा किसी अन्य नदी के साथ मिलकर समुद्र में प्रवेश करती हैं ।

इसके बाद पुष्पदन्त कहते हैं कि वे यदि ऐसे सर्व-शक्तिमान हैं, तो फिर उनकी ऐसी अकिंचन दशा क्यों है –

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्मफणिनः
कपालं चेतीयत् तव वरद तन्त्रोपकरणम् ।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ।।८।।

तुम्हारा **तंत्रोपकरणम्** अथवा संसार-रूप क्रियाकर्म का उपकरण या सम्बल **इयत्** – मात्र इतनी ही सामग्री है – एक बूढ़ा बैल, अस्त्र है एक खट्वांग (दिखने में खाट के पाये के जैसा एक अस्त्र) और कुल्हाड़ी, जिसका आदिम काल से ही असभ्य लोग उपयोग करते आ रहे हैं । और तुम्हारा वस्त्र है व्याघ्रचर्म! अन्य देवताओं के पास तरह तरह के अलंकार हैं, पर तुम्हारे पास अलंकार के रूप में कुछ सर्प मात्र हैं! देवताओं के पास अगरू-चन्दन आदि अनेक प्रकार के अंगराग हैं, पर तुम्हारा अंगराग केवल भस्म है । तुम्हारी निर्धनता की ऐसी दशा है कि भिक्षा माँगकर खाना पड़ता है । भिक्षा माँगने को पात्र तक नहीं है, अतः तुमने नर-कपाल को अपना भिक्षापात्र बना लिया है! यही तुम्हारे ऐश्वर्य की सीमा है! तथापि सभी लोग तुमको **वरद** – अभीष्टप्रदाता, इच्छा-पूरणकारी के रूप में पुकारते रहते हैं । तुम्हारे इशारे मात्र से देवतागण **ताम् ताम्** – उन उन अपने अपने अतुल ऐश्वर्य के अधिकारी हुए हैं । प्रश्न उठेगा – जिसके भ्रूभंग अथवा कटाक्ष मात्र से देवताओं के पास इतना ऐश्वर्य आ जाता है, वे स्वयं निर्धन क्यों हैं? किसी के पास धन-सम्पदा रहने पर ही तो वह किसी दूसरे को दे सकता है । देवताओं को तुमने ही दिया है; पर तुम्हारा अपना कुछ भी नहीं है । क्यों? उत्तर है – **न हि स्वात्मारामं विषय-मृगतृष्णा भ्रमयति** – जो आत्माराम है, जिनके स्वयं के भीतर ही अनन्त आनन्द का स्रोत है, उनको विषय रूप मरीचिका विभ्रान्त नहीं करती । वे आत्माराम हैं और देवगण विषयाराम हैं । इसलिए वे विषय के पीछे नहीं दौड़ते । उन्हें ऐश्वर्य की जरूरत नहीं है, परन्तु देवताओं को है, क्योंकि उन लोगों को आनन्द प्राप्त करने हेतु बाहर के साधनों की अपेक्षा रहती है । तुमको किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है, तुम आत्मानन्द से पूर्ण हो । अतः विषय-मरीचिका तुम्हें कैसे भटकायेगी? इसीलिए तुम्हारा कुछ भी नहीं है ।

अब पुष्पदन्त कहते हैं – परस्पर-विरोधी विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से भ्रमित होकर मैंने स्तुति का ही आश्रय लिया है –

ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं
परां ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये ।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन तैर्विस्मित इव
स्तुवन् जिह्रेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता ।।९।।

जगत् के तत्त्व के बारे में कितने लोग कितनी बातें कहते रहते हैं, मनुष्य के मन में कितनी भ्रान्तियाँ हैं! कोई कहता है – जगत् में सभी नित्य है (सांख्य), मात्र अविराम रूप से आविर्भाव और तिरोभाव चल रहा है; कोई कहता है – सभी अनित्य है, क्षणिक है (बौद्ध); फिर कोई सांसारिक पदार्थों के बीच एक विभाजन रेखा खींचकर कहता है – आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन एवं चार तत्त्वों के परमाणु नित्य हैं और इन तत्त्वों से उत्पन्न स्थूल पदार्थ अनित्य हैं । इस प्रकार जगत् के बारे में विभिन्न मतवाद हैं । परस्पर विरोधी विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों से मैं भ्रमित हो रहा हूँ । तथापि, हे त्रिपुरान्तक, इन मतवादों से विस्मित-अचम्भित होकर भी, मैं **स्तवन जिह्रेमि त्वां न** – तुम्हारी स्तुति करता हुआ लज्जित नहीं हो रहा हूँ । इसका एकमात्र कारण है – **खलु ननु धृष्टा मुखरता** – हाय! मुखरता या वाचालता बड़ी ही निर्लज्ज है ।

❖ (क्रमशः) ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (६/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरो पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेखन बयालीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर मे प्राध्यापक है। – सं.)

राम कृपा नासहिं सब रोगा।
जौं एहि भाँति बनै संयोगा।। ७/१२२/५

कागभुशुण्डि जी मानस रोगों की व्यापकता का वर्णन कर लेने के बाद उनकी चिकित्सा का सन्दर्भ रामकृपा से ही प्रारम्भ करते है और अगली पंक्ति में कहते हैं – **सद्गुर बैद बचन बस्वासा** – जैसे रोग का सही निदान और उसके लिए समुचित औषधि की व्यवस्था वैद्य करते हैं, वैसे ही मनोरोगों से ग्रस्त व्यक्ति के रोगों का निदान और उसकी चिकित्सा करनेवाले सदगुरु ही वैद्य है। यहाँ गुरु के साथ 'सत्' शब्द जोड़ दिया गया है। सद्गुरु इसलिए कि 'मानस' में दोनों प्रकार के गुरुओं के रूप दिखाई देते हैं – एक रूप वह है, जो गुरु के रूप मे दिखाई देने पर भी कल्याणकारी नहीं है और दूसरा रूप वह है, जो शिष्य के लिए हितकर व अपेक्षित है।

श्रीराम ने विधान प्रसंगों में कई महापुरुषों को गुरुरूप में वरण किया है। श्रीराघवेन्द्र स्वयं ईश्वर होते हुए भी मनुष्यों के समान आचरण करते थे। इसके पीछे उनका उद्देश्य यह है कि उन्हे देखकर मनुष्य भी उनके चरित्र का अनुगमन कर सके। वैसे तो भगवान राम स्वयं ईश्वर हैं, उन्हें गुरु की अपेक्षा नही है। गुरु से व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है –

बिनु गुरु होइ कि ग्यान
ग्यान कि होइ बिराग बिनु। ७/८९-क

परन्तु भगवान तो स्वयं साक्षात् अखण्ड ज्ञानघन हैं –

ग्यान अखण्ड एक सीताबर। ७/७८/४

जो अखण्ड ज्ञानघन है, उन्हे ज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी गुरु की क्या अपेक्षा है, किन्तु 'मानस' में आप बारम्बार देखेगे कि श्री राघवेन्द्र विविध प्रसंगों में किसी-न-किसी का गुरु के रूप में वरण करते हैं। वे प्रसंग बड़े सांकेतिक हैं और उन प्रसंगो में उनके चरित्र में सद्गुरु का स्वरूप भी परिलक्षित हो जाता है। यदि हम क्रम की दृष्टि से विचार करें, तो मानो यह एक सूत्र है। वस्तुत: मानवीय साधना के तत्त्व को प्रगट करने के लिए भगवान सद्गुरु का वरण करते हैं। उनके गुरुओ में सर्वप्रथम ब्रह्मर्षि वशिष्ठ का नाम आता है। गोस्वामी जी कहते है कि भगवान श्रीराघवेन्द्र बाल्यावस्था में विद्या प्राप्त करने गुरु वशिष्ठ के आश्रम में गये और थोड़े ही समय में समग्र विद्याओ को प्राप्त कर लिया –

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई।
अलप काल बिद्या सब आई।। १/२०४/४

किन्तु यह सब लिखते हुए भी गोस्वामीजी को भगवान राम के ईश्वरत्व का स्मरण बना रहता है और वे याद दिलाना नही भूलते कि श्रीराम स्वयं ईश्वर हैं।

ग्रन्थों में हमारे यहाँ वेद को ही परम प्रामाणिक माना जाता है। इसके पीछे मान्यता या सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति की रचना कभी पूरी तौर से दोषमुक्त नहीं हो सकती और यह बात किसी सीमा तक दिखाई भी देती है, क्योंकि व्यक्ति जब किसी ग्रन्थ की रचना करेगा, तो वह बुद्धि की सहायता से ही करेगा और यह बुद्धि एक बड़ा उपादेय माध्यम है भी, पर इसके साथ अनेक समस्याएँ भी जुड़ी हैं। व्यक्ति के जीवन में जो सात बुद्धिजन्य समस्याएँ हैं, 'मानस' के विभिन्न प्रसंगों में उन पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुत: उसका तात्त्विक तात्पर्य बुद्धि का विरोध नहीं, अपितु यह बताना है कि हम बुद्धि पर इतने मुग्ध न हो जायँ, यह न समझ बैठें कि हमारी बुद्धि या तर्क में जो बातें आती हैं, वे पूर्णत: सही हैं। बुद्धि की इन समस्याओं का उल्लेख 'मानस' के जिन प्रसंगों में किया गया है, उन्हें विस्तार से पढ़ने पर हमें अलग अलग प्रसंगों में बुद्धि के अलग अलग दोष दिखाई देते हैं। प्रारम्भ में बालकाण्ड में गोस्वामीजी बुद्धिजन्य दोषों के दो रूप प्रस्तुत करते हैं। एक रूप तो है, भगवान शंकर और सती के प्रसंग में। वहाँ पर वे बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग करते हैं। एक ओर तो विवेक, विचार और बुद्धि की परम्परा है और दूसरी ओर विश्वास की। बहुधा यह दिखाई देता है कि जो लोग विश्वास का समर्थन करते हैं, वे बुद्धि का विरोध करते हैं। हमारे एक बड़े प्रसिद्ध भक्त थे। उन्होने एक प्रार्थना लिखी, तो उसमें यही प्रार्थना की – **बना दो बुद्धिहीन भगवान**। उनके पास आलोचना के अनेक पत्र आये कि यह क्या आपने लिखा? जिस देश में प्राचीन ऋषि ने उस गायत्री मन्त्र का साक्षात्कार किया, जिसमें बुद्धि के लिये प्रार्थना की गई हो, वहाँ भगवान से यह प्रार्थना करना कि 'बुद्धिहीन बना दीजिए'। इससे बढ़कर नासमझी की बात क्या हो सकती है! एक प्रकार की भावुकता में जब व्यक्ति बुद्धि से उलझता है, तब उसके मस्तिष्क मे कभी कभी ऐसी बात आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। किन्तु यह समग्र तथा

पूर्ण नहीं, बल्कि केवल एक सामयिक और आंशिक धारणा ही हो सकती है । बुद्धि हमारे सामने कभी कभी समस्याएँ उत्पन्न कर देती है, तब ऐसा लगने लगता है कि इससे अच्छा तो यह होता कि बुद्धि ही न होती । पर यदि समग्र दृष्टि से विचार करके देखें, तो लगेगा कि वस्तुत: विचार और विश्वास एक दूसरे के पूरक हैं । इसे 'मानस' में इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि मानो विचार और विश्वास यदि परस्पर विरोधी बने रहेंगे, तब तो व्यक्ति किसी भी दिशा में ठीक से चल ही नहीं सकेगा । एक व्यक्ति के पैर में रस्सी बाँधकर अगर उसे दो विपरीत दिशा में खींचा जाय, तो उस खिंचाव में वह किसी भी दिशा में नहीं चल पायेगा । इसी प्रकार व्यक्ति को यदि विचार और विश्वास विपरीत दिशाओं में खींचें – विश्वास को कोई बात ठीक लगे और बुद्धि कुछ और करना चाहे, तो परिणाम यही होगा कि बुद्धि और विश्वास के झमेले में व्यक्ति किसी भी दिशा में आगे नहीं बढ़ पायेगा । अत: 'मानस' की परम्परा में गोस्वामीजी कहते हैं कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा 'बुद्धि के देवता' और भगवान शिव मूर्तिमान विश्वास-रूप हैं –

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।६/१५
भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ । १/२

ब्रह्माजी को बुद्धि और भगवान शंकर को विश्वास बताने के बाद उसी क्रम में आगे आता है कि दक्ष ब्रह्मा का पुत्र है । यह क्रम बड़ा स्वाभाविक है । दक्ष का अर्थ है चतुर । इसका अभिप्राय है कि दक्षता का जन्म विचार की परम्परा में ही सम्भव है । इसके बाद दक्ष के घर में सती का जन्म होता है । दक्ष के मन में विवाह की चिन्ता हुई, तब उसने अपने पिता से यह प्रश्न किया कि मैं अपनी पुत्री का विवाह किससे करूँ? उत्तर में ब्रह्मा ने जो बात कही, वही वस्तुत: सैद्धान्तिक सत्य है । ब्रह्मा बोले – तुम अपनी कन्या का विवाह शिव से करो । इसका अभिप्राय यह है कि जब तक इस बुद्धि तथा विश्वास की परम्परा का मिलन नहीं होगा, तब तक व्यक्ति तथा समाज में सही अर्थों में समग्रता नहीं आयेगी । बड़ी सांकेतिक भाषा है । अन्तत: बुद्धि के दो ही परिणाम हो सकते हैं – या तो बुद्धि के द्वारा संशयालु बन जाय; बहुधा दिखाई देता है कि जहाँ बुद्धि है वहाँ सन्देह भी बहुत हैं; या फिर बुद्धि का दूसरा फल यह होना चाहिए कि व्यक्ति अन्त में किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचकर, किसी निश्चित सत्य को जानकर अडिग हो जाय । यदि व्यक्ति बुद्धि पाकर हर बात को काटता ही रहा, खण्डन ही करता रहा, तब तो इसका परिणाम जीवन में बड़ा घातक होगा । बुद्धि जब व्यक्ति को केवल कुतर्की बनाती है, सन्देह तथा भ्रम की स्थिति में डाल देती है, तब वह बुद्धिमान व्यक्ति किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता । बुद्धि निश्चयात्मिका हो, तभी उसकी सार्थकता और सच्चा लाभ है । निश्चयात्मिका बुद्धि अर्थात् जब बुद्धि में विश्वास आ जाय; विश्वास का अभिप्राय है निश्चय । ऐसी स्थिति में ब्रह्मा ने जो संकेत-सूत्र दिया, वह यही था कि विश्वास के प्रति ही बुद्धि का समर्पण होना चाहिए । यही हुआ भी, पर आगे चलकर फिर से बुद्धि का दोष सामने आया । बड़ी विचित्र सांकेतिक भाषा है । बुद्धि की परम्परा का यह दोष भिन्न भिन्न चरित्रों के सन्दर्भ में दिखाई देता है और हर प्रसंग में कहीं-न-कहीं शंकर जी जुड़े हुए हैं ।

पुराणों में ब्रह्मा जी का वर्णन है । पहले उनके पाँच सिर थे, जिनमें से एक को शंकर जी ने काट दिया । फिर दक्ष के प्रसंग में आता है कि जब दक्ष ने यज्ञ किया, तो भगवान शंकर ने वीरभद्र को भेजा और उन्होंने दक्ष का सिर काट दिया । बाद में सतीजी ने पार्वती के रूप में जन्म लिया और गणेश जी का जन्म हुआ, तो यह बड़ी विचित्र कथा आती है कि शंकर जी ने गणेश जी का सिर काट दिया । यह शंकरजी के द्वारा सिर काटने की परम्परा बड़ी विलक्षण है । यह परम्परा प्रारम्भ हुई ब्रह्मा से । ब्रह्मा का सिर कटा, फिर दक्ष का और उसके बाद गणेशजी का भी । लेकिन ये तीनों सिर कटने के बाद भी मरे नहीं । वस्तुत: इन तीनों प्रसंगों में सिर काटने का जो अभिप्राय है वह यह है कि बुद्धि में जो दोष उत्पन्न होते हैं, उसे विश्वास के द्वारा नष्ट करने का संकेत है । भगवान शंकर के द्वारा सिर काटने का अभिप्राय यह है कि बुद्धि रहे, विचार रहे, तर्क रहे; पर उसके साथ साथ उसमें जो दोष है, वह किसी तरह जीवन से दूर हो जाय । ब्रह्मा तो महान् हैं, पर पुराणों में उनसे सम्बन्धित बड़ी अटपटी कथाएँ आती हैं, जो कभी कभी बड़ी भद्दी-सी प्रतीत होती हैं, पर ये कथाएँ तो बड़ी सांकेतिक और महत्व की हैं । कहा जाता है कि ब्रह्मा ने एक बड़ी ही सुन्दर दिव्य कृति का निर्माण किया और उस कृति की सुन्दरता पर मोहित होकर उसी के पीछे भागने लगे । यह समझ में आने योग्य सत्य है । अपनी कृति के प्रति यह तीव्र आसक्ति, केवल ब्रह्मा का दोष नहीं है, जितने रचयिता हैं, उन सब में यही दोष दिखाई देता है । पढ़कर बड़ा विचित्र लगता है, लेकिन इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा से लेकर प्रत्येक रचनाकार में यही दोष है । अपनी ही बनाई हुई वस्तु पर मुग्ध होकर उसके पीछे भागना । कवि कविता करते हैं, तो अपनी कविता पर मोहित हैं । सुननेवाले चाहे ऊब ही क्यों न जायँ, पर कवि मोहित रहता है । गोस्वामी जी ने स्मरण दिलाया – अपनी कविता किसे प्रिय नहीं लगती –

निज कबित्त केहि लाग न नीक ।। १/८/११

दूसरों को लगे या न लगे, पर कवि को तो अत्यन्त प्रिय लगती है । ब्रह्मा महान् हैं, उनमें अनेक उत्कृष्ट गुण हैं, पर बुद्धि के देवता होने के नाते वे रचनाकार भी हैं । वे बुद्धि की रचना करते हैं, सुन्दरता की भी रचना करते हैं । उनमें अपनी कृति के प्रति आसक्ति उपजी और वे उसके पीछे भागे । अब ऐसी स्थिति में उन्हें इस दोष से, इस आसक्ति से मुक्त कौन

करें? तब भगवान शंकर ने उनका एक सिर काट लिया। इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि के चार उपयोग तो रह गये, पर आसक्तिवाला सिर कट जाना ही ठीक है। उसके कट जाने पर ब्रह्मा उस दोष से मुक्त हो गये, आसक्ति से बच गये।

बुद्धि मे कृति का प्रादुर्भाव होता है, बुद्धि से निर्माण होता है, पर उसकी चरम सार्थकता क्या है? जैसे कन्या को जन्म देकर पिता के मन में समर्पण की वृत्ति आती है, इसी प्रकार बुद्धि का सदुपयोग सच्चे अर्थों में यही है कि जब उसके द्वारा किसी वस्तु या कृति का निर्माण हो, तो वह ईश्वर को समर्पित की जाय, न कि उसको अपने अहंकार की पूर्ति का साधन बनाया जाय। ब्रह्मा का एक सिर काट देने का अभिप्राय यह है कि उनके चार सिर तो उपयोगी हैं, पर यह पाँचवाँ – आसक्तिवाला सिर मिटा देने योग्य है।

दूसरा संकेत दक्ष के सन्दर्भ में है। वहाँ बुद्धि का दूसरे प्रकार का दोष है। दक्ष ने यज्ञ किया, तो उसमें सभी देवताओं को तो निमंत्रित किया, पर शंकर जी को नही किया। यदि कुछ विश्वासी ऐसे होते है, जो विचार को अपने पास फटकने नही देना चाहते; तो बुद्धिमान तो बहुधा ऐसे ही मिलते है, जो विश्वास को निमंत्रण ही नही देते। केवल दक्ष का ही नही, यह समस्त विद्वानो का दोष है। वे अपने जीवन में सारे सद्‌गुणों को निमंत्रण देगे, पर विश्वास रूप शिव को निमंत्रण नही देंगे। क्यो? क्योंकि दक्ष को ऐसा लगता है कि शिव ने मेरा तिरस्कार और अपमान किया है।

यह बुद्धिमान व्यक्ति का एक दोष है। जहाँ बुद्धि है, वहाँ बुद्धि का अहंकार है। अहंकारी व्यक्ति स्वभाव से ही सम्मान का बड़ा भूखा होता है। वह निरन्तर यही चाहता है कि लोग मुझे महत्त्व दे, मेरा सम्मान करें। दक्ष प्रजापति चुने गये। एक बार जब वे ब्रह्मा की सभा में गये, तो वहाँ जितने देवता और मुनि बैठे हुए थे, उनके सम्मान में उठकर खड़े हो गये। लेकिन दक्ष के जीवन की विडम्बना यह है कि उसने यह नहीं देखा कि मेरे स्वागत मे कितने लोग खड़े हुए। वे चारो ओर घूर-घूरकर यह देखने लगे कि कोई बैठा तो नहीं रह गया? दिखाई पड़ा कि शिव जी बैठे हुए हैं। बस, हजारों का स्वागत व्यर्थ चला गया, एक का स्वागत न करना उसे सबसे अधिक चोट पहुँचानेवाला हो गया। शंकर जी ने स्वागत नही किया, इसका अर्थ क्या हुआ? बहुत बढ़िया बात होती, यदि दक्ष भगवान शंकर से प्रेरणा लेते। अभिप्राय यह है कि शंकर जी विश्वास के रूप मे भी हैं और साक्षात् महाकाल भी हैं –

करालं महाकाल-कालं कृपालं ।। ६/१०८/२

याद रहे, आप संसार के लोगो से पाँच-दस वर्ष के लिए भले ही सम्मान पा ले, पर महाकाल की दृष्टि में? दक्ष को आश्चर्य हुआ कि मैं प्रजापति चुना गया और मेरे आने पर शिव नहीं उठे? शंकर जी को हँसी आती है कि यहाँ तो न जाने कितने करोड़ दक्ष चुने गये – आए और गये। तात्पर्य यह कि शिव तो साक्षात् महाकाल हैं। काल की अनन्तता जिन्हें ज्ञात है, उनकी दृष्टि में व्यक्ति का क्या महत्व है, कुछ क्षणों के, कुछ वर्षो के जीवन का क्या महत्त्व है? व्यक्ति को यदि काल की अनन्तता का बोध हो जाय और उसमें समर्पण-बुद्धि आ जाय, तो वह इन सब बातो से दु:खी नहीं होगा। वह तो यही समझेगा कि हम दूसरों की दृष्टि में भले ही पूज्य हो, पर ये तो काल के भी महाकाल हैं और मैं तो एक सीमित काल के लिए प्रजापति हूँ। एक ब्रह्मा के काल मे कितने प्रजापति आते हैं, और जाते हैं और शंकर जी के काल मे कितने ब्रह्मा आते और जाते हैं, इसका तो बड़ा लम्बा गणित है। पुराणो में इसकी गणना की गई है। पर दक्ष की दृष्टि इस ओर नही गई, उन्हें क्रोध आ गया और प्रतिशोध की भावना से ग्रस्त होकर उन्होंने सोचा कि मैं यज्ञ करूँगा। उसमें देवताओं को बुलाऊँगा, परन्तु शंकर को नही बुलाऊँगा; इस प्रकार उसका अपमान करके अपने इस अपमान का बदला लूँगा। यह अहंकार जन्य-दोष है। दक्ष शंकर जी को नही बुलाते, इसका अभिप्राय यह है कि अहंकार विश्वास से द्वेष करता है, उसे वह अपने जीवन मे स्थान नही देना चाहता। तब क्या होता है? वीरभद्र को भेजा गया। वीरभद्र ने दक्ष के सिर पर प्रहार किया। यह सांकेतिक भाषा है। सिर पर अर्थात् बुद्धि के दोषों पर प्रहार, क्योंकि मस्तिष्क से ही बुद्धि का सम्बन्ध है। वीरभद्र ने दक्ष का सिर तोड़कर यज्ञकुण्ड में डाल दिया। चारों ओर हाहाकार मच गया। वीरभद्र के साथ आये शंकर जी के गण यज्ञ का ध्वंस कर देते हैं। देवताओ ने शंकर जी से कहा कि आपके द्वारा यज्ञ नष्ट हो, इससे बढ़कर आश्चर्य की बात और क्या होगी? भगवान शंकर ने कहा, यज्ञ नष्ट थोड़े ही हुआ, बल्कि हमने तो यज्ञ को पूरा किया। कैसे? बोले – यज्ञ में आहुति ही तो दी जाती है। अन्तिम आहुति बाकी थी, वह मैंने वीरभद्र से दिलवा दी। व्यक्ति का अहंकार ही यज्ञ में अन्तिम आहुति है। अन्त मे जब वह अग्निकुण्ड में अन्तिम आहुति के रूप में अपने अहंकार को डाल देता है, तब यज्ञ पूर्ण होता है। दक्ष अपने अहंकार की आहुति नही दे रहे थे, इसलिए उनके अहंकार की आहुति मुझे देनी पड़ी। अब यज्ञ पूर्ण हो गया।

यह बुद्धि का अहंकारजन्य दोष है, यह दोष दक्ष में था, जिसे भगवान शंकर दूर करते हैं। देवताओ ने शंकर जी से प्रार्थना की, तो उन्होने उसे एक नया सिर दे दिया। पुराणों में कथा आती है कि दक्ष को भगवान शंकर ने बकरे का सिर दे दिया। बकरे का सिर मिलते ही दक्ष ने पहला काम क्या किया? दक्ष ने सर्वप्रथम भगवान शिव की स्तुति की। इसका अभिप्राय है कि जब दक्षता का अभिमान नष्ट होगा, तो सबसे पहले उस व्यक्ति के जीवन मे विश्वास का उदय होगा, विश्वास

की महिमा प्रगट होगी, और तब वह विश्वास की वन्दना किये बिना नही रहेगा। इसलिए यह परम्परा ही बन गई। जो लोग शंकर जी की पूजा करते हैं, वे पूजा के अंत में बकरे के आवाज की नकल करते हैं। उनकी मान्यता है कि ऐसा किये बिना शंकर जी प्रसन्न नहीं होते। ऐसा करने से भला शंकर जी को क्या प्रसन्नता होगी? परन्तु उसके पीछे अभिप्राय यही है कि दक्ष के जीवन का यह आख्यान – उसका सिर काटकर बकरे का सिर लगाने की घटना का बराबर स्मरण करते रहने से अहंकार नष्ट होगा और अहंकार नष्ट होने पर ही शिव प्रसन्न होंगे। ये सब सांकेतिक कथाएँ हैं, इनकी भाषा सांकेतिक है।

गणेश जी द्वार पर द्वारपाल के रूप में खड़े थे और भीतर पार्वती जी स्नान कर रही थी। सती जी ही शुद्ध होकर पार्वती जी के रूप में आयी हैं। उन्होंने अपने संकल्प से बुद्धि के देवता विनायक का निर्माण किया और आदेश दिया कि तुम द्वार पर द्वारपाल की तरह खड़े रहो, किसी को भीतर मत आने देना। संयोगवश शंकर जी आ पहुँचे और घर में प्रवेश करने लगे। गणेश जी ने रोककर पूछा – आप बिना पूछे अन्दर कैसे जा रहे हैं। शंकर जी ने सोचा भी नहीं था कि उन्हें अपने ही घर में जाने के लिए किसी से अनुमति लेनी होगी।

भगवान श्रीकृष्ण के जीवन में भी बड़ा मधुर व्यंग आता है। एक बार वे किसी गोपी के घर में मक्खन खाते हुए पकड़े गये। गोपी ने पूछा – "तुमने चोरी क्यों की?" तो कृष्ण बड़े आश्चर्य के साथ पूछते हैं – "गोपी, क्या यह घर तुम्हारा है? मैं तो इसे अपना ही घर समझकर धोखे में आ गया।" परन्तु वस्तुत: श्रीकृष्ण धोखे में नही आये। बात उनकी बड़े पते की है। उनका तात्पर्य है – "मैं तो यह समझता था कि यह सारा संसार मेरा ही है, लेकिन अब मुझे पता चला कि कुछ नये स्वामी भी बन गये हैं। और यहाँ से यदि ईश्वर भी कुछ लेना चाहे, तो उसे चोर ही कहा जाएगा। मैं तो यही समझ रहा था कि अपनी इस सृष्टि में मुझे किसी से अनुमति नहीं लेनी होगी? मक्खन खाने के लिए क्या मुझे अनुमति की जरूरत थी? जब सब कुछ मेरा है, तो मैं भला किससे अनुमति लूँ?" इस मक्खन-चोरी का क्या अर्थ है? श्रीकृष्ण वस्तुत: मक्खन को चुराते नहीं, क्योंकि वे तो सबके मालिक हैं। चोर तो वह होगा, जो दूसरों की चीजें चुराये, पर इस सृष्टि में जब सब कुछ भगवान का ही है, तो वे क्या चुरायेंगे? पर इस विश्व की विशेषता यह है कि यदि भगवान किसी जमीन पर अधिकार के लिए मुकदमा लड़ें, तो हार जायेंगे, क्योंकि सर्वत्र किसी-न-किसी का नाम चढ़ा हुआ है, भगवान का नाम कहीं नहीं है। तात्पर्य यह कि सभी चीजों पर लोगों ने अधिकार कर लिया है, पर जो वास्तविक स्वामी है, वह अधिकार से वंचित है।

अपने घर में प्रवेश करने के लिए गृहस्वामी को किसी से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होती, इसलिए भगवान शंकर अपने घर में प्रवेश करने लगे। पर गणेश जी ने उन्हें रोक दिया और कहा कि आप भीतर नहीं जा सकते। शंकर जी ने पूछा – तुम कौन हो? गणेशजी पिता का नाम तो जानते नहीं थे, अत: माँ का नाम बताते हुए कहा, "पार्वती जी का पुत्र हूँ। उनकी आज्ञा है कि मैं किसी को भीतर न जाने दूँ।" शंकर जी बोले, "तुमने तो शब्द को ही पकड़ लिया है, शब्द का तात्पर्य क्या है इस पर दृष्टि नहीं है।" तात्पर्य क्या है? किसी को भीतर न आने देने का जो अर्थ है, उनमें मैं नही आता हूँ। पहले तो तुम यह समझ लो कि 'किसी को' का क्या अर्थ है और 'मैं' कौन हूँ? शंकर जी तो अर्धनारीश्वर हैं – आधे शंकर और आधे पार्वती। अब पार्वती जी के आदेश पर पार्वती जी को ही द्वार पर रोक लेना, क्योंकि पार्वती जी रूप आधे अंग को न रोककर, शंकर जी रूप आधे अंक को तो रोका नहीं जा सकता। दोनों अभिन्न हैं। जो इस बात को नही समझ पा रहा है, उसे बुद्धिमान नही कहा जा सकता। इधर गणेश जी अड़े हुए हैं, "नहीं, मैं तो माँ के आदेश पर दृढ़ रहूँगा, आपको भीतर नहीं जाने दूँगा।" तब भगवान शंकर उनका सिर काट लेते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि किसी को पहचानने, समझने की चेष्टा न करना – ऐसा दुराग्रह ठीक नहीं है। किसी गृह-स्वामिनी ने द्वारपाल से कह दिया – देखो, रात्रि के समय कोई भीतर न आने पाए। परन्तु रात में जब स्वयं उसके पतिदेव आयें और द्वारपाल उन्हें भीतर न जानें दे, तब तो उसने आदेश का सही अर्थ नहीं लिया। उस आदेश का अर्थ था कि चोर-उचक्के जैसे लोग न आ सकें। गणेश जी तो बुद्धि के देवता हैं और बुद्धि तो हमारे जीवन की पहरेदार है ही। उसका काम है कि वह हमारे जीवन में बुराइयों को न आने दे, असत् का प्रवेश न होने दे। यदि ऐसा है, तो बुद्धि सार्थक है, परन्तु यदि वह हमारे जीवन में शिव को ही प्रविष्ट न होने दे, तब तो यह उसका दोष होगा।

भगवान शंकर गणेश का सिर काट लेते हैं। अपने बेटे का सिर कटा देखकर पार्वती जी अत्यन्त दुखी हो जाती हैं। तब भगवान शंकर ने एक बड़ी मधुर बात कही। वे बोले – "पार्वती, तुमसे एक भूल हो गयी। पुत्र का निर्माण तो माता-पिता मिलकर करते हैं, पर गणेश का निर्माण तुमने अकेले ही कर डाला। अब हमारे और तुम्हारे बीच एक समझौता होना चाहिए।" – "क्या?" बोले, "गणेश तो जीवित हो जायेंगे, पर अब उनका शरीर तुम्हारा दिया हुआ और सिर मेरा दिया हुआ होगा।" शंकरजी ने हाथी का सिर मँगाया और उसे गणेश की गर्दन से जोड़ दिया।

इसका अभिप्राय क्या हुआ? पार्वती जी हैं श्रद्धा। यह श्रद्धा ही उनका आध्यात्मिक स्वरूप और बुद्धि का सर्वोत्कृष्ट

रूप है। पार्वती जी ने गणेश का निर्माण किया। गणेश जी हैं विवेक। किन्तु यहाँ पर संकेत यह किया गया कि गणेश जी का निर्माण अकेले पार्वती जी ने किया और शंकर जी की दृष्टि में वह अपूर्ण था, उसमें कुछ कमी थी, अत: उन्होंने उनका सिर अलग करके अपने हाथो से उसमें एक नया सिर जोड़ दिया। शंकर जी का अभिप्राय था कि केवल श्रद्धाजन्य विवेक मे विश्वास की कमी रह जायेगी – श्रद्धा तथा विश्वास के योग से ही विवेक में समग्रता व परिपूर्णता आती है। वस्तुत: सबसे परिष्कृत और आदि-वन्दनीय विवेक तो वही है, जो श्रद्धा और विश्वास के संयोग से उत्पन्न हुआ हो, जिसमें बुद्धि और विश्वास का सामंजस्य हो। शंकर जी ने पार्वती जी द्वारा निर्मित शरीर में सिर जोड़ दिया। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर श्रद्धा का हो और मस्तिष्क विश्वास का। इन कथाओं में संकेत यह है कि किस प्रकार हम बुद्धि के दोषों को दूर करके उस परिष्कृत बुद्धि का अपने जीवन में सदुपयोग करें।

'मानस' के बालकाण्ड में इसका एक सुन्दर क्रम है। वहाँ शिव-पार्वती का मिलन होता है, फिर शंकर जी कथा कहते हैं और पार्वती जी सुनती हैं। वहाँ पर भी यही संकेत है कि 'विश्वास' वक्ता हो और 'श्रद्धा' श्रोत्री हो। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक स्वयं वक्ता को अपनी बात पर विश्वास नहीं होगा, तब तक उसके शब्द प्रभावशाली नहीं होंगे और कथा सही अर्थो में सार्थक नहीं होगी। वैसे ही श्रोता में जब तक श्रद्धा नही होगी, उसकी बुद्धि में श्रद्धा की जगह कुतर्क होगा, तब तक वह कथा को सही अर्थों में ग्रहण नहीं कर सकेगा। इसीलिए 'मानस' में हम देखते हैं कि रामकथा प्रारम्भ होने के पूर्व ही वहाँ शिव-पार्वती की कथा है। इसका अभिप्राय यही है कि पहले श्रद्धा और विश्वास का मिलन हो, बुद्धि परिष्कृत हो, तब कथा प्रारम्भ हो, तो वह सार्थक होगी।

इसी प्रकार अहल्या के प्रसंग में भी बुद्धि की समस्याओं का समाधान बड़े विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। अहल्या भी बुद्धि का प्रतीक हैं। विनय-पत्रिका में कहा गया है –

सहस सिलातें अति जड़ मति भई है।
कासों कहौं, कौन गति पाहनहिं दई है ।। विनय. १८१

अहल्या की कथा से आप परिचित हैं। अहल्या गौतम की पत्नी है। इन्द्र गौतम का रूप बनाकर आता है। उसे देखकर अहल्या उसे गौतम ही समझ लेती हैं। यह एक भूल अहल्या के जीवन मे होती है। इसका अभिप्राय यह है कि बुद्धि प्राय: पहचानने मे भूल कर बैठती है और उसमे यह दोष आ जाता है। वह भोग और तप मे भेद नही कर पाती और कभी कभी तप के स्थान पर वह भोग का वरण कर लेती है। इस प्रकार बुद्धि के दोष किस प्रकार उत्पन्न होते हैं तथा उसे किस क्रम से दूर किया जाना चाहिए, उसके पदचिह्न क्या है, इसे 'मानस' मे अहल्या-प्रसंग के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ महर्षि विश्वामित्र भगवान राम से कहते हैं –

गौतम नारि श्राप बस, उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।। १/२१०

बुद्धि में यह जो जड़ता का दोष उत्पन्न हो गया है, इसे मिटाने का उपाय क्या है? यह जो भगवद्भक्ति का रस है, भगवान के चरण-कमलों का जो पराग है, उसके संस्पर्श से बुद्धि की चेतना पुन: लौट आती है। ये सांकेतिक कथाएँ हैं। इन्हें मैंने यहाँ संक्षेप में, केवल सूत्र रूप में कहा है।

आगे अयोध्या-काण्ड में कैकेयी के चरित्र में बुद्धि का जो स्खलन दिखाई देता है, उसके लिए गोस्वामी जी ने कहा –

को न कुसंगति पाइ नसाई।
रहइ न नीच मतें चतुराई ।। २/२४/८

कैकेयी बड़ी बुद्धिमती हैं। किन्तु उनकी बुद्धि पर भी संग का प्रभाव पड़ता है और वह अशुद्ध हो जाती है। तब भरत जी जैसे संत के सत्संग के फलस्वरूप कुसंग से उत्पन्न उस बुद्धि के दोष का निराकरण होता है। 'मानस' के विभिन्न काण्डों मे गोस्वामी जी ने बुद्धि के विभिन्न प्रकार के दोषों का निराकरण अलग अलग पद्धति से प्रस्तुत किया है।

किसी के द्वारा निर्मित किसी भी कृति को निर्भूल या निर्दोष समझ लेना, इससे बढ़कर भ्रान्त धारण और क्या हो सकती है? ऐसी परिस्थिति में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि क्या किसी व्यक्ति के द्वारा विरचित ग्रन्थ को परम प्रमाण मानना उपयुक्त है? इस पर हम यही कहेंगे कि हमारे यहाँ की आस्तिक परम्परा यह रही है कि ऐसा परम प्रमाण, जिसकी प्रामाणिकता मे कोई सन्देह नहीं है, वह तो एकमात्र वेद है। वेद क्या है? वेद के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, उसका स्मरण दिलाते हुए गोस्वामी जी कहते हैं –

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी ।। १/२०४/५

वेद भगवान की सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में श्वास-प्रश्वास के समान कोई प्रयास नही है, चेष्टा नही है। ऐसा नही है कि भगवान ने किसी भाषा, शब्द या वाणी के द्वारा वेद को प्रकट किया हो, बल्कि सांकेतिक भाषा में कहा गया कि वेद-मन्त्र भगवान की श्वास-प्रश्वास की भाँति सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। वाणी या भाषा में कुछ-न-कुछ प्रयास है, कुछ-न-कुछ पक्षपात है, पर श्वास तो अत्यन्त स्वाभाविक क्रम से चलता है, इसलिए कहा गया कि वेद समस्त दोषो से मुक्त है। बुद्धि में जितने दोष हैं, वे उसमें नही हैं। कृति में जो दोष होते हैं, वे भी उसमे नहीं हैं, क्योकि ऐसा भी नही कहा जा सकता कि वह ईश्वर की कृति है। ईश्वर ने उसका निर्माण नही किया, बल्कि इसके माध्यम से वे स्वयं अभिव्यक्त हुए हैं। अत: ईश्वर के श्वास-प्रश्वास के रूप में सर्वथा दोषमुक्त वेद ही परम प्रमाण हैं। यह हमारी आस्तिक

परम्परा रही है। यद्यपि इससे हमारी सारी समस्याओं का पूरा समाधान नहीं हो जाता, क्योंकि वेद परम प्रमाण तो है, पर वेद का अर्थ तो हम लोग अपनी अपनी बुद्धि से अलग अलग ही लगाएँगे। बुद्धि का झगड़ा तो फिर शुरू होगा ही। लेकिन अन्ततः यह मान लिया गया कि वेद ही परम प्रमाण है। परम्परा यही रही है। सबने एक स्वर से इसे मान लिया। इसके बाद जिसने भी वेदमन्त्र से जो ध्वनि पाई, उसका जो तात्पर्य उसे प्रतीत हुआ, उसके आधार पर उसने कह दिया कि वेद का चरम तात्पर्य यह है।

जो ईश्वर हैं, जिनके श्वास-प्रश्वास वेद हैं, उस ईश्वर ने शिशु के रूप में जन्म लेकर क्या किया? उन्होंने यह प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया कि वेद उनके श्वास-प्रश्वास हैं, अपितु वे स्वयं विद्याध्ययन – वेदों का अध्ययन करने के लिए महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में जाते हैं। गोस्वामी जी को स्मरण हो आता है कि वेद जिनका सहज श्वास है, वे राम पढ़ रहे हैं –

जाकी सहज स्वास श्रुति चारी।
सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ।। १/२०४/५

पढ़ने के लिए भी गोस्वामीजी ने बड़ी सांकेतिक भाषा का प्रयोग किया है। वहाँ उन्होंने एक शब्द और जोड़ दिया है –

गुर गृहँ गये पढ़न रघुराई ।। १/२०४/४

भगवान राम विद्या पढ़ने के लिए गुरु वशिष्ठ के आश्रम गये, वहाँ रहकर उन्होंने वेदों की शिक्षा पाई। तो क्या गुरु वशिष्ठ महाराज दशरथ के महल में आकर उन्हें नहीं पढ़ा सकते थे? गुरु को वरण करने का उद्देश्य केवल किसी ग्रन्थ को पढ़ लेना मात्र नहीं है। कई लोग पूछा करते हैं कि क्या सचमुच गुरु की आवश्यकता है? प्रश्न स्वाभाविक है। जब कोई बात केवल रूढ़ि बन जाती है, एक परम्परा बन जाती है, तब उसका दुरुपयोग होने लगता है। साधारण लोगों के मन में उसके प्रति दोषबुद्धि आने लगती है। कई लोग उसकी निन्दा करते हैं और समझते हैं कि यह सब अनावश्यक है। पर भगवान राम ने अपने चरित्र के माध्यम से इसकी आवश्यकता को रेखांकित किया है। एक व्यक्ति के रूप में उन्हें गुरु की आवश्यकता होती है। इसको अगर आयुर्वेद के सन्दर्भ में देखें, तो गोस्वामीजी कहते हैं –

सतगुर बैद बचन बिस्वासा ।। ७/१२२/६

सदगुरु वैद्य हैं। वैद्य के सन्दर्भ में भी यही पूछा जाता है। शरीर में यदि कोई रोग हो जाय तो क्या डॉक्टर या वैद्य को बुलाना आवश्यक है? यदि हम स्वयं अपनी चिकित्सा कर लें तो? हजारों लोग करते भी हैं। स्वयं दवाइयाँ लेते हैं। उससे कई बार लाभ भी होता है और रोग ठीक हो जाता है, तथापि यह चिकित्सा-शास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। प्रायः दवा के साथ यह लिखा रहता है कि यह दवा आप चिकित्सक के परामर्श से ही सेवन करें। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्ति यदि अपनी बुद्धि से रोगनिर्णय करता है, चिकित्सा करता है तो उसका एक परिणाम यह भी हो सकता है कि उसे लाभ हो जाय। पर लाभ होने के बाद उसका परिणाम क्या होता है? कई लोग अपने आप को ही महावैद्य समझ बैठते हैं और दूसरों की भी चिकित्सा करने लगते हैं। मात्र किताबें पढ़कर चिकित्सा करना उल्टा फल भी दे सकता है, घातक हो सकता है। ऐसे चिकित्सक कब किसे मार डालें, इसका कोई ठिकाना नहीं है। हमारे एक स्नेही डिप्टी कलेक्टर थे। उन्होंने अपना एक बड़ा मनोरंजक संस्मरण सुनाया। जब वे प्रयाग विश्वविद्यालय में पढ़ते थे, तब कोई चिकित्सा ग्रन्थ उनके हाथ लग गया, जिसमें रोगों के लक्षण लिखे हुए थे। उन्होंने एक अध्याय खोला, तो उसमें लिखे सारे लक्षण उन्हें स्वयं में ही मिल गये। उस रोग का नाम भी उन्होंने पढ़ा और डॉक्टर के पास जाकर बोले कि मुझे यह रोग हुआ है। सुनते ही डाक्टर तो हँसी के मारे लोटपोट होने लगे। रोगी महोदय बोले – मुझे रोग हुआ है, मैं दुखी हूँ और आप सुनकर हँसे जा रहे हैं। डाक्टर बोले – "आज तक मैंने कभी ऐसा आदमी नहीं देखा, जिसे यह रोग हुआ हो। भले आदमी, यह रोग तो केवल गर्भवती स्त्रियों को होता है। आज पहली बार सुन रहा हूँ कि पुरुषों को भी यह रोग होता है।" इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने किताब पढ़ ली, पर इस बात पर उनका ध्यान नहीं गया कि वहाँ सन्दर्भ स्त्री-रोगों का है। उन्होंने तो केवल लक्षण पढ़ लिये, रोग का नाम पढ़ लिया, पर यह नहीं देखा कि वह खण्ड स्त्री-रोगाधिकार का है। इसी प्रकार ग्रन्थ से मन्त्रों को पढ़कर उसका विचित्र अर्थ लेनेवालों और विचित्र व्याख्या करनेवालों की कमी नहीं है।

जब हम चिकित्सक का वरण करते हैं, तो हमारे मन में यह सन्तोष रहता है कि वह इस रोग के विषय में ठीक जानता है और ठीक औषधि का चुनाव कर सकता है। औषधि की प्रतिक्रियाएँ भी होती हैं, पर हमें विश्वास है कि चिकित्सक इन सारी परिस्थितियों के प्रति सजग है। मंत्र-जप से कभी कभी मस्तिष्क-विकृति होने की बात भी आपने सुनी होगी। अतः यह कोई जरूरी नहीं कि कोई दवा यदि बहुत अच्छी है, कोई मंत्र या साधना यदि बड़ी उत्कृष्ट है, तो वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान रूप से लाभदायक हो। निरापद मार्ग तो यही है कि उस विषय के विशेषज्ञ की सलाह ली जाय। मानस-रोगों के सन्दर्भ में भी यही सत्य है। जब हमें लगे कि हम मन के रोगी हैं, तो हमारा पहला कर्तव्य यह है कि जिस महापुरुष पर हमें श्रद्धा-विश्वास हो कि ये मनोरोगों के विशेषज्ञ हैं और उनका ठीक ठीक निदान तथा चिकित्सा कर सकते हैं, तो उनका हम वैद्य के रूप में, गुरु के रूप में वरण करें।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ के सान्निध्य में (६५)

श्रीमती खिरोदबाला राय

(भगवान श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्री सारदा देवी का जीवन दैवी-मातृत्व का जीवन्त-विग्रह था । उनके प्रेरणादायी वार्तालापो के संकलन रूप मूल बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर कथा' से रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के स्वामी निखिलात्मानन्द जी द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद हम अनेक वर्षो से प्रकाशित कर रहे थे । इसी बीच अब तक प्रकाशित अधिकांश अंशो का 'माँ की बातें' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशन भी हो चुका है । प्रस्तुत है पूर्वोक्त ग्रन्थ के ही द्वितीय भाग से आगे के अप्रकाशित अंशो का अनुवाद । – सं.)

बीच मे एक बार म अपने गाँव गयी और लौटते समय राधारानी (राधू) के लिए एक जोड़ी शंख की चूड़ियाँ ले आयी थी । परन्तु उन्हें पहनाते समय मैंने देखा कि आकार में छोटी आ गयी है और उसके हाथ मे कैसे भी नही जा रही है । इस पर राधू बिल्कुल रो पड़ी । मेरी भी आँखो मे आँसू आ गये । सोचा कि इतने प्रेम से मैं इन्हें लायी, पर राधू पहन नहीं सकी । नलिनी दीदी, सरला दीदी, राधू और मै धीमी आवाज में ये ही सब बाते कर रही थी, तभी माँ ने मन्दिर से राधू को बुलाकर कहा, "तुम सभी यहाँ आओ ।" हमारे जाने पर वे बोली, "क्या हुआ है?" तब राधू रोते हुए बोली, "दीदी मेरे लिए इतने सुन्दर शंख की चूड़ियाँ लायी है, पर ये छोटी पड़ रही है, मेरे हाथ में आ नही रही हैं ।" माँ ने तत्काल कहा, "तुम लोग यह क्या कहती हो! बहू चूड़ियाँ लायी है और वे तेरे हाथ में नही आती! पहले उन्हे मेरे पास लाना था । चल तो, देखूँ वे तेरे हाथ में कैसे नहीं आती!" इसके बाद पाँच मिनटो के भीतर ही माँ मे वे चूड़ियाँ राधू के हाथ में पहना दिये । हम सभी विस्मित रह गयीं । राधू अपनी नम आँखों के साथ ही हँस पड़ी । माँ बोलीं, "अच्छी चूड़ियाँ पहन ली है, अब ठाकुर को प्रणाम कर, मुझे प्रणाम कर और बहू-माँ को भी प्रणाम कर ।" उनके ऐसा कहते ही मेरा दिल धड़कने लगा । मै सोचने लगी – मेरा घर-बार कहाँ है, किस जाति की हूँ और मेरे कौन कौन हैं, ये सब बाते माँ ने कभी पूछा नहीं । मै कह उठी, "माँ, मै कायस्थ की पुत्री हूँ, राधू मुझे भला क्यों प्रणाम करेगी?" माँ अपनी जीभ दातों में दबाकर बोलीं, "यह सब नही कहना चाहिए । तुम कायस्थ हो या ब्राह्मण – क्या मैं नही जानती? तुम इतने दिनो से यहाँ हो, अब भी क्या तुम कायस्थ ही हो?" इसके बाद वे राधू से बोलीं, "जा, अपनी दीदी को प्रणाम कर ।" राधू ने ठाकुर तथा माँ को प्रणाम करने के बाद मुझे प्रणाम किया । मैंने भी राधू को प्रणाम किया । माँ खूब हँसने लगी । बोली, "प्रणाम को लौटा दिया?" परन्तु मै बात को समझ न पाकर चुप रह गयी ।

एक दिन राधू, नलिनी दीदी आदि सबने मुझे अच्छी तरह पकड़ा – मुझे बताना होगा कि मेरा घर कहाँ है, मै किस जाति की लड़की हूँ, मेरे कौन कौन हैं, आदि । परन्तु मै कुछ भी बताने को राजी न थी । उस दिन भी माँ ने बुलाकर कहा, "तुम लोग किसलिए बहू को इतना परेशान कर रही हो? मेरे पास आओ, मैं सब बता दूँगी ।" सभी दौड़कर चली गयीं, मैं भी साथ गयी । मैने सोचा – माँ ने मुझसे कभी ये बाते पूछा नही, जरा मै भी सुनूँ कि वे क्या कहती है । वे सभी कहने लगी, "खिरोद दीदी इतने दिनो से यहाँ हैं, परन्तु उनका घर कहाँ है, वे किस जाति की है, उनके घर मे कौन कौन है – वे हमे यह सब कुछ भी नही बताती । आज हम लोग इतना आग्रह कर रही है, तो भी नही बता रही है ।" माँ ने कहा, "मै सब बता सकती हूँ, जहाँ सन्तरे पैदा होते है उस अंचल में इसका जन्म हुआ है, ससुराल एक अन्य जिले मे है, यह चन्द्रकान्त की अत्यन्त निकट सम्बन्धी है; उसके कोई नही है, माँ भी नही है, एक भाई है ।" इतना कहने के बाद माँ ने मुझसे पूछा, "ठीक हुआ है न, बहू?" माँ का प्रसंग उठने के साथ ही मेरी एक जोर की साँस निकल गयी । अन्तर्यामिनी ने समझ लिया कि अपनी माँ की बात उठने के कारण ही मैंने दु:खपूर्वक लम्बी साँस छोड़ी है । वे कहने लगीं, "अहा! तुम्हारी माँ की बात उठने से ही तुम्हें दु:ख हुआ है न, बहू? तुम्हारी माँ यदि जीवित भी रहती, तो वे क्या कर पातीं? केवल तुम्हारे दु:ख ही तो देखती रहती । मेरे जैसी माँ पाकर भी क्या तुम्हे माँ का दु:ख रह गया है?" यह बात सुनकर मैं आनन्द से रोने लगी । वे नलिनी दीदी आदि से बोली, "और क्या जानना चाहती हो?" उन लोगो ने कहा, "यह किस जाति की लड़की है?" माँ बोली, "वह सब मै नही कहूँगी, ये लोग भक्त है, एक ही जाति के हैं ।" मै माँ की बाते सुनकर आनन्द से अधीर हो उठी, मेरा कण्ठ अवरुद्ध हो गया ।

कालीपूजा के दिन संध्या के समय मैं श्रीमाँ का दर्शन करने गयी थी । उस दिन माँ के घर में काफी भीड़ थी । रास्ते में आठ आने देकर पाँच चम्पा के फूल खरीदकर ले गयी थी । बड़ी कठिनाई से मैने वे फूल माँ के पादपद्मों में चढ़ाये । माँ बोली, "आज बड़ी भीड़ है । यहाँ ठहरने की जरूरत नहीं । तुम सुधीरा के साथ भेट करके गौरदासी के यहाँ चली जाओ । उसके साथ बातचीत करने के बाद घर लौट जाना ।" यह बात सुनकर मै तो बिल्कुल अवाक् रह गयी । ऐसा आदेश तो माँ से मुझे पहले कभी नही मिला था । मैने कहा, "गाड़ी करके जाऊँ या पैदल ही चली जाऊँ? कोई साथ जायेगा या मै

अकेली ही चली जाऊँ?" माँ बोलीं, "पैदल और अकेली ही जाना। क्या हमेशा बच्ची ही बनी रहोगी? ठीक है, जाओ।"

मैं तत्काल माँ का नाम लेकर, बिना किसी बात का विचार किये बाहर निकल पड़ी। मार्ग में लोगों से पूछ पूछ कर मैं बड़ी आसानी से सुधीरा दीदी के स्कूल भवन तक जा पहुँची। सुधीरा दीदी मुझे देखकर बिल्कुल अवाक् रह गयीं। उन्होंने पूछा, "रात के समय तुम कैसे आयी? किसलिए आयी?" मैंने कहा, "नहीं जानती किसलिए आयी हूँ; माँ ने यहाँ आने को कहा, इसीलिए आयी हूँ।" यह सुनकर सुधीरा दीदी अपने स्कूल की बालिकाओं को बुलाकर बोलीं, "तुम लोग पढ़ना-लिखना बन्द करके यहाँ आओ। खिरोद दीदी माँ के पास से आयी हैं, आकर उन्हें देखो।"

सब लड़कियाँ आकर मुझे घेरकर खड़ी हो गयीं। 'माँ के आदेश से मुझे अभी सारदेश्वरी आश्रम जाना होगा' – कहकर मैंने तत्काल रवाना होने की इच्छा व्यक्त की। सुधीरा दीदी बोलीं, "अकेले ही जाओगी?" मैंने कहा, "अकेले जाने का ही तो आदेश मिला है।"

मैं चल पड़ी। उसी हॉस्टल के बाहर के कमरे से एक सज्जन भी मेरे पीछे पीछे चले। उनके साथ मेरा कोई परिचय न था, तथापि अपने साथ उन्हें चलते देखकर मेरी छाती धड़कने लगी। गौरी-माँ जैसे कठोर स्वभाव की हैं, उससे सम्भव है कि इस व्यक्ति को मेरे साथ देखकर मुझे डाँट दें। मैंने उन सज्जन के साथ कोई बातचीत नहीं की। सारदेश्वरी आश्रम के द्वार पर पहुँचकर मैंने दरबान से कहा, "माँ जी को बुलाओ। कहना – बागबाजार के माँ के घर से एक महिला आपका दर्शन करने आयी हैं।"

थोड़ी देर बाद ही गौरी-माँ एक हाथ में घी का दीपक और दूसरे हाथ में धूपदानी में धूप जलाकर लिए हुए नीचे उतरीं। मेरे प्रणाम करने को उद्यत होने पर वे बोलीं, "आज मैं क्या तेरा प्रणाम ले सकती हूँ?" उन्होंने किसी भी हालत में प्रणाम नहीं स्वीकार किया। गौरी-माँ काफी देर तक मेरे मुख के पास आरती जैसा करती रहीं। मैं तो अवाक् रह गयी। ऐसा करने के बाद वे पूर्वोक्त सज्जन उन्हें प्रणाम करने गये। तत्काल गौरी-माँ के चेहरे का भाव बदल गया। उन्होंने उन सज्जन से पूछा, "कहाँ से आये हो? तुम्हारा घर कहाँ है? यहाँ क्यों आये हो?" उन्होंने (मेरी ओर इंगित करते हुए) कहा, "ये सुधीरा बसु के पास गयी थीं और उनसे बोलीं कि वे यहाँ आयेंगी; सोचा कि मैंने तो आपको देखा नहीं, उनके साथ आने से आपको देख सकूँगा, इसीलिए आया हूँ।"

गौरी-माँ ने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?" उनके नाम बतलाने पर मैंने उन्हें पहचान लिया। मैंने उनका नाम सुन रखा था। गौरी-माँ बोलीं, "पहचान लिया; तुम्हारा घर सिलहट में है। सो गौरी-माँ तो कोई पर्दानशीन नहीं हैं कि उन्हें देखने के लिए यहाँ आना होगा। साधु-दर्शन करना हो तो बेलूड़ मठ जाना; महिला-साधु को क्या देखोगे?"

वे सज्जन बोले, "रविवार को आने से शायद आपके साथ बातें कर सकूँगा?"

गौरी-माँ ने कहा, "नहीं, नहीं, यहाँ पर मेरी सब बालिकाएं हैं, यहाँ पर भेंट नहीं हो सकेगी।"

उनके इतना कहते ही वे सज्जन उन्हें प्रणाम करके चले गये। तब गौरी-माँ मेरी ओर उन्मुख होकर कहने लगीं, "श्रीमाँ के बारे में तुम्हारी क्या धारणा है? माँ केवल कैलासेश्वरी हैं। उन्हें मनुष्य समझना नहीं चलेगा। माँ जगद्गुरु हैं, विश्वजननी हैं। तुमने उन्हें गुरु के रूप में वरण किया है, तुम्हें अब चिन्ता ही क्या है?" इसके बाद वे लगभग दो घण्टे श्रीमाँ तथा ठाकुर के बारे में बोलती रहीं। मैं जैसे दरवाजे पर खड़ी थी, वैसे ही खड़ी रही। गौरी-माँ भी खड़ी खड़ी ही बातें कह रही थीं। सहसा गौरी-माँ ने मुझे पकड़कर कहा, "चल, माँ की पूजा करने चलेंगे।" मैं बोली, "मुझे फिर बागबाजार जाने का आदेश नहीं है। फिर रात भी हो गयी है और बाद में मैं घर कैसे लौटूँगी?" गौरी-माँ ने कहा, "चल, मैं माँ से कह दूँगी।" मैं गौरी-माँ के साथ चल पड़ी। उन्होंने दो छोटी बालिकाओं को भी साथ में ले लिया। उनमें से एक के हाथ में फूल-बेलपत्र थे और दूसरी के हाथ में फल-मिष्ठान्न। गौरी-माँ के हाथ में एक कमण्डलु था। दोनों ओर के लोग अवाक् होकर देख रहे थे। माँ के घर के द्वार पर पहुँचते ही सुनाई पड़ा, माँ कह रही थीं, "यह देखो, गौरदासी सड़क पर एक दृश्य बनाकर आ रही है।" वहाँ जाकर मुझे पता चला कि गौरी-माँ द्वारा की गयी पूजा ही आज माँ की अन्तिम पूजा है। बाकी सभी लोग पूजा कर चुके हैं। गौरी-माँ ने कालीपूजा के समान ही काफी समय तक पूजा की। वह पूजा एक देखने की चीज थी। बाद में सबने प्रसाद ग्रहण किया। गौरी-माँ ने कहा, "खिरोद को फिर यहाँ ले आयी। वह कह रही थी कि तुम्हारी अनुमति नहीं है। मैंने कहा कि मैं माँ से कहूँगी।"

माँ बोलीं, "अच्छा किया।"

उस दिन मेरा माँ के घर में ही रहना हुआ। वह रात जैसे आनन्द में बीती थी, वह जीवन में कभी भूलूँगी नहीं।

❖ (क्रमशः) ❖

माँ की दुलारी निवेदिता

स्वामी पूर्णात्मानन्द

(प्रस्तुत लेख हमारे बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के सुधी सम्पादक ने उसी पत्रिका के 'कथाप्रसंग' स्तम्भ के अन्तर्गत लिखा था, उसी के दिसम्बर १९९८ के अंक में प्रकाशित हुआ है। इसका हिन्दी अनुवाद स्वामी निर्विकारानन्द जी ने किया है, जो हमारे आश्रम के ही अन्तेवासी हैं। – सं.)

तीस साल की एक युवती कुमारी मार्गरेट एलीजाबेथ नोबेल व्याकुल हृदय के साथ इंग्लैण्ड से रवाना होकर सात समुद्र पार करते हुए २८ जनवरी १८९८ ई. को कलकत्ते में निवास कर रहे अपने गुरुदेव स्वामी विवेकानन्द के चरणों में आ पहुँचीं। लन्दन तथा कलकत्ते के बीच की यह दूरी केवल भौतिक नहीं थी, अब उनके लिए दोनों के बीच स्थित श्रद्धा, संस्कृति और सामाजिक-राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था का समुद्र भी पार करना जरूरी था। इनमें से कुछ भेद इतने प्रबल थे कि उन्हें पार कर सकना प्रायः असम्भव था। पर इन सच्चाइयों को जानते हुए भी मार्गरेट कलकत्ते आ पहुँची थीं।

बेलूड़ मठ की हाल ही में खरीदी हुई भूमि पर बने एक पुराने भवन की थोड़ी मरम्मत कराने के बाद उसी में दो अन्य अमेरिकी महिलाओं के साथ उन्हें भी ठहराया गया था। श्रीरामकृष्ण की लीला-सहधर्मिणी माँ श्रीसारदा देवी उन दिनों कलकत्ते के बोसपाड़ा लेन के १०/२ नं. के किराये के मकान में निवास कर रही थीं। १७ मार्च, १८९८ ई. के दिन परिचय कराने को स्वामीजी उन्हें श्रीमाँ के चरणों में ले गये। श्रीमाँ ने चरणों में प्रणत मार्गरेट को उठाकर स्नेहपूर्वक अपने सीने से लगा लिया। जैसे बहुत दिनों से बिछुड़ी अपनी पुत्री से मिलन होने पर एक माँ उसे दुलार करती हैं, वैसा ही आचरण श्री सारदा देवी ने भी मार्गरेट के साथ किया। मुख पर स्नेहभरा चुम्बन और सिर पर अभय देती हाथों का स्पर्श पाकर मार्गरेट को अपने पूरे शरीर-मन में जिस परम शान्ति तथा आनन्द की अनुभूति हुई, उससे वे अभिभूत हो उठीं। उस दिन श्रीमाँ ने मार्गरेट के साथ ही उनके साथ गयीं कुमारी जोसेफिन मैक्लाउड तथा श्रीमती सारा ओली बुल नामक दो अन्य विदेशी महिलाओं को भी इसी प्रकार अपनाया था। उन्होंने इन तीनों को ही 'मेरी बिटियाँ' कहकर स्नेहपूर्वक सम्बोधित किया था। उन लोगों के आने पर माँ ने पाश्चात्य रीति के अनुसार उनके साथ हाथ मिलाकर भी उनका स्वागत किया था। अपनी विदेशी कन्याओं के साथ बैठकर भोजन करते हुए सबको विस्मय में भी डाल दिया था। माँ ने वात्सल्यपूर्वक उन लोगों के मुख में मिष्ठान्न तथा जल डाल दिया था और उन लोगों ने भी माँ के मुख में फल-मिष्ठान्न डाल दिया था। जिन दिनों समाज में किसी विधर्मी तथा विदेशी महिला के साथ भोजन करना केवल अनुचित ही नहीं, बल्कि पाप माना जाता था; उन दिनों एक ब्राह्मण महिला के द्वारा ऐसे आचरण की बात सपने में भी नहीं सोची जा सकती थी। माँ का विदेशी महिलाओं के साथ भोजन करने का एक गहन तात्पर्य था और वह यह कि अपने इस आचरण के द्वारा मानो उन्होंने उन लोगों के हिन्दू धर्म तथा समाज में उनके अपनाये जाने तथा आत्मसात् किये जाने को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी थी। स्वयं स्वामी विवेकानन्द भी ऐसी कल्पना नहीं कर सकते थे। जब उन्होंने निचली मंजिल में खड़े होकर इस घटना को सुना, तो वे भी आनन्द से अभिभूत हो उठे।

õX ¥Tq¥CPb ¦Ex¤CPbC b – यही तो माँ का सच्चा स्वरूप है। बाद में उन्होंने मार्च १८९८ के अपने एक पत्र में स्वामी रामकृष्णानन्द के समक्ष अपने भाव को व्यक्त करते हुए लिखा था, "श्रीमाँ यहीं पर हैं। यूरोपियन और अमेरिकन महिलाएँ उस दिन उनके दर्शन करने गयी थीं। सोचो तो सही, माँ ने उनके साथ मिलकर भोजन किया! क्या यह एक अद्‌भुत घटना नहीं है?"

यद्यपि श्रीमाँ ने तीनों विदेशी नारियों का समान रूप से स्वागत किया था, तथापि हमें लगता है कि मार्गरेट के लिए माँ के मन में विशेष आवेग, विशेष प्रीति तथा विशेष स्थान था; क्योंकि यह देवी-सी दिखनेवाली अंग्रेज बालिका उनके नरेन की पुत्री थी। वह उनके नरेन के आह्वान पर, नरेन का अनुसरण करते हुए, अपने स्वदेश तथा स्वजनों को त्यागकर भारतीय महिलाओं की उन्नति के लिए अपना जीवन समर्पित करने को आयी थी।

श्रीमाँ के साथ पहली भेंट के बाद मार्गरेट ने अपनी डायरी में लिखा था, "जीवन का सर्वश्रेष्ठ दिन!" श्रीमाँ का दर्शन करने के बाद ये महिलाएँ नाव में स्वामीजी के साथ ही बेलूड़ मठ लौट गयीं। कहना न होगा कि अपने गुरुदेव के साथ भारत-भ्रमण के लिए निकलने के पूर्व ११ मई १८९८ के दिन उन्हें एक बार और माँ से मिलने का सौभाग्य हुआ था।

नये मठ का निर्माण-कार्य आरम्भ होने के पूर्व ७ अप्रैल १८९८ ई. को सुबह श्रीमाँ नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान-भवन में स्थित मठ में आयी थीं। अपराह्न में बागबाजार लौटने के पूर्व, स्वामी ब्रह्मानन्द के विशेष अनुरोध पर उन्होंने हाल ही में

खरीदी गयी मठ की नई भूमि पर पदार्पण किया था। उन्हें नाव में ही नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान से नये मठ की भूमि तक ले जाया गया था। माँ की नौका नये मठ के घाट से लगते ही मार्गरेट, ओलीबुल तथा मैक्लाउड ने उनका स्वागत किया और उन्हें साथ ले जाकर नये मठभूमि का परिदर्शन कराया। स्वामीजी उस समय अपने स्वास्थ्य में सुधार हेतु चिकित्सकों की सलाह पर दार्जिलिंग गये हुए थे। मार्गरेट उस समय तक भगिनी निवेदिता में परिणत हो चुकी थीं, क्योंकि इसी बीच २५ मार्च १८९८ को नीलाम्बर मुखर्जी के उद्यान में स्थित मठ के मन्दिर में स्वामीजी ने मार्गरेट को ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा प्रदान की थी। १७ मार्च को श्रीमाँ का दर्शन करके मठ लौटते समय नाव में ही स्वामीजी ने मार्गरेट को सूचित किया था कि वे शीघ्र ही उन्हें ब्रह्मचर्य-व्रत की दीक्षा प्रदान करनेवाले हैं। हमें लगता है कि स्वामीजी सम्भवतः इस महत्वपूर्ण विषय में निर्णय लेने के पूर्व श्रीमाँ के साथ मार्गरेट की भेंट कराने तथा उसके बारे में श्रीमाँ का मत जानने को इच्छुक थे। उन्होंने जब देखा कि श्रीमाँ ने मार्गरेट को स्नेहपूर्वक स्वीकार कर लिया है, तब उन्होंने भी उल्लासपूर्वक मार्गरेट को अपने निर्णय की सूचना दे दी। मार्गरेट के इस नये जन्म तथा उनके प्रति श्री सारदा देवी के सहज वात्सल्य की सूचना पाकर रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी अभिभूत हो गये थे। किसी किसी का मत है कि रवीन्द्रनाथ के सुप्रसिद्ध 'गोरा' उपन्यास में गोरा तथा आनन्दमयी के चरित्र में मार्गरेट (निवेदिता) और सारदादेवी के सम्पर्क की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीमाँ का दर्शन करने के बाद निवेदिता के अपने शब्दों में श्रीमाँ का पहली बार उल्लेख उनके २२ मई, १८९८ के पत्र में मिलता है। यह पत्र उन्होंने अल्मोड़ा से अपनी प्रिय मित्र श्रीमती नील हेमण्ड के नाम लिखा था। निवेदिता ने लिखा है, "मेरे मन में कई बार आता है कि मैं तुम्हें उन महिला के बारे में बताऊँ, जो श्रीरामकृष्ण की सहधर्मिणी है और सारदा उनका नाम है। पहली बात तो यह है कि वे पचास वर्ष से कम आयु की किसी भी हिन्दू विधवा के समान श्वेत वस्त्र धारण करती हैं। ... कोई पुरुष उनसे बातें करने आने पर, वह उनके पीछे खड़ा रहता है और वे अपने श्वेत घूँघट से अपने मुख को ढँककर उसे और भी नीचे तक खींच लेती हैं। आम तौर पर वे उनके साथ सीधे बात नहीं करतीं। वे अधिक आयुवाली किसी अन्य महिला से अपनी बात फुसफुसा कर कह देती हैं और वे उनकी बात उस व्यक्ति को सुना देती हैं। इसी कारण लगता है कि आचार्यदेव (स्वामीजी) ने कभी उनका मुख नहीं देखा है। इसी के साथ यह भी कल्पना करो कि वे हमेशा फर्श पर बिछी एक छोटी चटाई पर बैठी रहती हैं। सम्भव है कि ये सारी बातें तुम्हें बुद्धिग्राह्य न लगें, परन्तु उन्हें भलीभाँति जानने पर ही यह समझा जा सकेगा कि वे व्यावहारिक ज्ञान तथा प्रत्युत्पन्न बुद्धि की प्रतिमूर्ति हैं। जो लोग उन्हें थोड़ा भी जानते हैं, उन्हें प्रत्येक विषय में इसका स्पष्ट परिचय मिलता है। श्रीरामकृष्ण सर्वदा कुछ भी करने के पूर्व उनकी सलाह लिया करते थे और उनके शिष्यगण भी हमेशा उनकी सलाह के अनुसार ही चलते हैं। वे माधुर्य की प्रतिमूर्ति हैं – अत्यन्त कोमल तथा स्नेहमयी, तथापि एक बालिका के समान हँसमुख हैं।"

इसके बाद निवेदिता ने उनकी इस "बालिका के समान आनन्दप्रियता" की परिचायक एक जीवन्त घटना का वर्णन किया है – "उस दिन जब मैंने (स्वामीजी से) हठ करके कहा कि उन्हें तत्काल यहाँ हम लोगों के बीच आना होगा, नहीं तो हम चली जायेंगी; तब उसे सुनकर उनकी हँसी को यदि तुम देखती! गुरुदेव को आने में देरी लगेगी – यह सूचना लेकर जो संन्यासी आये थे, वे मुझे अपने जूतों की ओर बढ़ते देखकर घबड़ा गये और उन्हें तत्काल बुलाने चले गये, उस समय सारदा की हँसी को यदि तुम सुनती! और वे इतनी मधुर हैं – मुझे 'मेरी बिटिया' कहकर सम्बोधित करती हैं।"

इस वर्णन से लगता है कि यह निवेदिता आदि के माँ के साथ प्रथम भेंट की नहीं, बल्कि उसके बाद की घटना है। प्रथम भेंट का जो विवरण हमें मिलता है, उसमें कहीं भी किसी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं है। इसके अलावा घटना के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तब तक श्रीमाँ के साथ उनका खूब सहज तथा आत्मीयतापूर्ण सम्बन्ध जुड़ चुका था। और इस भेंट के समय भी स्वामीजी उन लोगों के साथ आये थे।

निवेदिता ने श्रीमाँ के साथ अपनी प्रथम भेंट का संक्षिप्त विवरण ही उस पत्र में दिया है, परन्तु इससे यह स्पष्ट है कि उस दिन श्रीमाँ के असाधारण व्यवहार से निवेदिता आदि अभिभूत हो गयी थीं। निवेदिता ने लिखा है, "वे अपने व्यवहार में अत्यन्त रूढ़िवादी हैं, परन्तु पहली दो विदेशी महिलाओं – श्रीमती बुल तथा कुमारी मैक्लाउड के अपने पास आने पर उन्होंने वह सब दूर कर दिया था (निवेदिता ने यहाँ अपना अलग से उल्लेख नहीं किया है)। उन लोगों के साथ उन्होंने भोजन भी किया। हमारे पहुँचते ही हमें खाने को फल दिया गया। उन्हें भी दिया गया। सबको विस्मित करते हुए, उन्होंने वह फल हम लोगों के साथ ही खाया। उनके इस आचरण ने हमें एक तरह की सामाजिक मान्यता प्रदान की और मेरे भावी कार्य को इस प्रकार सम्भव बना दिया था, जो किसी भी अन्य

प्रकार से सम्भव नहीं था।''

श्रीमाँ का शान्त तथा वात्सल्यपूर्ण स्वभाव और उनके असाधारण व्यक्तित्व का प्रभाव किस प्रकार आसपास के लोगों को प्रभावित किया करता था, इसे देखकर निवेदिता मुग्ध हो गयी थीं। श्रीमती हेमण्ड को उन्होंने इसी पत्र में लिखा था, ''उनकी महिमा का एक श्रेष्ठ उदाहरण देती हूँ। उनके कलकत्ता-निवास के दौरान १४-१५ उच्च वर्ण की ऐसी महिलाएँ सर्वदा उनकी सेवा में लगी रहती हैं, जो सामान्य परिवेश में अपने हठी तथा झगड़ालू स्वभाव के कारण सबको बड़े कष्ट में रखतीं; परन्तु माँ की अद्‌भुत सूझबूझ तथा सर्वजयी प्रीति के कारण वे निरन्तर शान्तिपूर्वक रहती हैं। मैं इन महिलाओं के स्वभाव के विषय में कोई कटाक्ष नहीं कर रही हूँ, बल्कि मैं महिलाओं के सामान्य चरित्र का अनुमान करके ही ये बातें लिख रही हूँ।''

प्रथम दर्शन तथा उसके बाद दो-एक बार भेंट होने पर ही निवेदिता ने समझ लिया था कि रामकृष्ण संघ के संन्यासी तथा ब्रह्मचारी उन्हें किस प्रकार सर्वोच्च श्रद्धा तथा सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। पूर्वोक्त पत्र में ही निवेदिता ने अपनी मर्मस्पर्शी भाषा में इस तथ्य को अभिव्यक्त किया था, ''उनके विषय में सन्यासियों का वीरोचित भाव सचमुच ही देखने लायक है। वे लोग उन्हें सर्वदा 'माँ' कहकर सम्बोधित करते हैं और उनका उल्लेख करते समय उन्हें 'श्रीमाँ'(The Holy Mother) कहा जाता है। प्रत्येक कठिनाई के समय सर्वप्रथम उन्हीं को याद किया जाता है। दो-एक संन्यासी सर्वदा उनकी सेवा में नियुक्त रहते हैं। उनकी इच्छा को स्थायी आदेश के समान माना जाता है। यह अद्‌भुत सम्बन्ध सचमुच ही दर्शनीय है। ... एक दिन एक सन्यासी ने मेरी ओर से उन्हें 'मैग्नीफिकेट' (ईसा की माँ मेरी के भजन) का बँगला अनुवाद सुनाया। और उन्होंने जिस प्रकार इसका रसास्वादन किया, उसे यदि तुम देख पाती! अत्यन्त सादे तथा आडम्बरहीन वेशभूषा में वे सचमुच ही पृथ्वी की सर्वाधिक शक्तिमयी तथा महानतम नारियों में से एक हैं।'' ये 'महानतम नारियों में से एक' नारी इसके साढ़े चार वर्ष बाद २ सितम्बर १९०३ को उनकी दृष्टि में 'दुनिया की सर्वश्रेष्ठ महिला' हो जायेंगी।

निवेदिता की दृष्टि में श्रीमाँ प्रारम्भ से ही माधुर्य तथा स्नेह की प्रतिमूर्ति के रूप में अभिव्यक्त हुई थीं। निवेदिता के कई परवर्ती पत्रों तथा रचनाओं में बारम्बार इस बात का उल्लेख मिलता है। हम देखते हैं कि इस पत्र में भी उन्होंने यह बात लिखी है। एक अन्य समय भी उन्होंने लिखा था, ''और वे कितनी मधुर हैं, मुझे 'मेरी बिटिया' कहकर पुकारती हैं।''

हिमालय, काश्मीर तथा अमरनाथ का भ्रमण करने के बाद १ नवम्बर १८९८ को निवेदिता कलकत्ते लौटीं। स्वामीजी कुछ दिनों पूर्व ही १८ अक्तूबर को लौट आये थे। निवेदिता जब लौटीं, तब स्वामीजी उत्तरी कलकत्ते के बलराम-भवन में निवास कर रहे थे। निवेदिता उस समय स्वामीजी द्वारा परिकल्पित बालिका विद्यालय का कार्य आरम्भ करने को अत्यन्त व्यग्र थीं। स्वामीजी की अनुपस्थिति के दौरान स्वामी सारदानन्द निवेदिता, ओली बुल तथा मैक्लाउड के भ्रमण की व्यवस्था कर रहे थे। उस समय वे लोग उत्तर भारत के ऐतिहासिक नगरों का परिदर्शन कर रहे थे। परन्तु निवेदिता अपने नये कार्य के लिए इतनी व्याकुलता का अनुभव कर रही थीं कि वे अकेली ही वाराणसी होते हुए कलकत्ते लौट आयी थीं। कलकत्ते लौटकर उन्होंने स्वामीजी से हठ किया कि वे श्रीमाँ के पास ही रहना चाहती हैं। श्रीमाँ उन दिनों बागबाजार के उस पहले वाले किराये के मकान में ही निवास कर रही थीं। उन्होंने निवेदिता को आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। श्रीमाँ के मकान में ही उनके भी ठहरने की व्यवस्था हुई। अगले दिन निवेदिता परम आनन्दपूर्वक वहाँ चली आयीं। परन्तु उन दिनों तत्कालीन कट्टर सामाजिक पृष्ठभूमि में, विशेषकर बागबाजार जैसे रूढ़िवाद के दुर्ग में 'म्लेच्छ' विदेशी महिला का एक ब्राह्मण परिवार में और ब्राह्मण विधवा के साथ एक ही मकान में निवास, न केवल अकल्पनीय बल्कि बड़ा निकृष्ट भी था। अतएव उस काल की दृष्टि से श्रीमाँ ने निवेदिता को अपने मकान में रखकर एक अत्यन्त समाज-विरोधी कार्य किया था, जिसकी प्रतिक्रिया केवल बागबाजार में ही नहीं, अपितु उनके सुदूर स्थित गाँव में भी उनके सगे-सम्बन्धियों के ऊपर भी पड़ने की सम्भावना थी। इस घटना के इतने दूरगामी परिणाम के विषय में निवेदिता को जरा-सी भी कल्पना नहीं थी। परवर्ती काल में उन्होंने अपने The Master as I saw Him ग्रन्थ में लिखा था, ''यदि उस समय मैं सचमुच ही जान पाती कि मेरी इस हठधर्मिता के द्वारा मेरी अबोध आश्रयदात्री के साथ-ही-साथ उनके दूर ग्राम के निवासी सगे-सम्बन्धी भी किस प्रकार की सामाजिक कठिनाई में पड़ सकते हैं, तो फिर मैंने कदापि वैसा नहीं किया होता।''

स्कूल आरम्भ करने के लिए एक अलग मकान की जरूरत थी, परन्तु बागबाजार में भला कौन उन्हें विद्यालय हेतु किराये पर मकान देता! स्वामीजी के प्रभाव तथा श्रीमाँ के आशीर्वाद से एक मकान मिल गया। आश्चर्य की बात तो यह है कि १६ नं. बोसपाड़ा लेन का वह मकान श्रीमाँ के मकान के

पास ही स्थित था। परम आनन्दपूर्वक श्रीमाँ के मकान में कुछ दिन बिताने के बाद निवेदिता उसी में चली गयीं। १३ नवम्बर १८९८, कालीपूजा के दिन इसी भवन में निवेदिता बालिका विद्यालय - उस समय 'श्रीरामकृष्ण बालिका विद्यालय' की स्थापना हुई। श्रीमाँ ने आनुष्ठानिक पूजा आदि के माध्यम से विद्यालय का विधिवत् उद्घाटन किया। आधुनिक भारतीय इतिहास के इस शुभ मुहूर्त पर भारतीय नवजागरण के अग्रदूत स्वामी विवेकानन्द स्वय उपस्थित थे। उनके साथ श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र स्वामी ब्रह्मानन्द तथा श्रीरामकृष्ण के सर्वप्रमुख लीला-भाष्यकार स्वामी सारदानन्द भी उपस्थित थे। श्रीमाँ की संगिनी श्रीरामकृष्ण-प्राणा गोलाप-माँ तथा योगीन-माँ भी उनके साथ वहाँ आयी थीं। स्थापना का अनुष्ठान समाप्त हो जाने के बाद श्रीमाँ ने अपना परम आशीर्वाद दिया, "मैं प्रार्थना करती हूँ कि इस विद्यालय पर जगदम्बा का आशीर्वाद वर्षित हो और यहाँ की छात्राएँ आदर्श नारियाँ बनें।" निवेदिता का हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। उन्हें लगा कि भविष्य की शिक्षित हिन्दू नारी के लिए उच्चरित श्रीमाँ के इस आशीर्वाद से बढ़कर किसी अन्य शकुन की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

उनकी इस धारणा के पीछे उनका यह विश्वास निहित था कि श्रीमाँ स्वय साक्षात् माँ सरस्वती हैं – यह बात उन सभी लोगों द्वारा लक्षित हुई है, जिन्होंने व्यक्तिगत रूप से देखा था कि जब कभी श्रीमाँ निवेदिता के स्कूल में पदार्पण करतीं, तो उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती। एक प्रत्यक्षद्रष्टा ने लिखा है, "एक दिन यह निश्चित हुआ था कि श्रीमाँ स्कूल देखने आयेंगी। यह बात सुनने के बाद से ही मानो निवेदिता के आनन्द तथा व्यस्तता की कोई सीमा न थी। उन्होंने विद्यालय के समस्त कमरों को झड़वा-पुछवाकर स्वच्छ कर लिया; पत्र-पुष्प मँगवाया और उन्हें भवन के द्वार पर टँगवाकर उसकी शोभा बढ़ाई। श्रीमाँ कहाँ बैठकर बालिकाओं के साथ बातचीत करेंगी, बालिकाएँ उन्हें क्या उपहार देंगी, क्या सुनायेंगी, कैसे उनका स्वागत करेंगी आदि बातें निर्धारित करने में ही उनका सारा समय चला गया। इसके बाद माँ जिस दिन विद्यालय में आनेवाली थी, उस दिन निवेदिता आनन्द में मानो अपना बाह्यज्ञान ही खो बैठीं। सभी चीजें यथास्थान हैं या नहीं - यह देखने को वे इधर-उधर दौड़ रही थीं। कभी छोटे बच्चे के समान अकारण ही हँस रही थीं और कभी भावुकता में अधीर होकर विद्यालय की शिक्षिकाओं तथा छात्राओं की ओर और कभी दासी तक को गले से लगाकर स्नेह प्रदर्शित कर रही थीं।"

विद्यालय की स्थापना के दो-चार दिनों बाद नवम्बर के मध्य में निवेदिता के प्रबन्ध तथा श्रीमती ओलीबुल के प्रयास से श्रीमाँ के मकान (१०/२ बोसपाड़ा लेन के; किसी किसी के द्वारा वह स्थान निवेदिता के आवास के रूप में निर्दिष्ट होने के बावजूद शोध से पता चला है कि वह निवेदिता का नहीं, बल्कि श्रीमाँ का मकान ही था) में श्रीमाँ का वह चित्र खींचा गया था, जो आज सुपरिचित तथा पूजित है। एक साथ ही दो अन्य चित्र भी खींचे गये थे - एक में दृष्टि झुकाये हुए और दूसरे में निवेदिता के आमने-सामने बैठीं श्रीमाँ का चित्र। ये तीन चित्र ही श्रीमाँ के सर्वप्रथम फोटोग्राफ हैं। स्वभावतः अत्यन्त लज्जाशील तथा प्रिय सेवक-शिष्य स्वामी योगानन्द की अस्वस्था के कारण श्रीमाँ किसी भी प्रकार चित्र खिंचवाने को राजी नहीं हुईं। मुख्यतः यह श्रीमाँ की दुलारी बिटिया निवेदिता के कारण ही सम्भव हो सका था। पहले दो चित्रों के लिए पृथ्वी की समस्त रामकृष्ण-भक्त-मण्डली श्रीमाँ की 'बिटिया' के प्रति असीम कृतज्ञता के बोझ से दबी है। वे उस असाधारण तीसरे चित्र के लिए भी कृतज्ञ रहेंगे, जिसमें श्रीमाँ अपनी बिटिया की ओर देख रही हैं। कितनी गहन शान्ति से परिपूर्ण हैं वे आँखें! फिर उन शान्त आँखों से असीम स्नेह भी व्यक्त हो रहा है। एक अतल और अनन्त विस्तार – बाह्यतः उनकी दृष्टि निवेदिता पर निबद्ध होने पर भी उसमें कोई निश्चितता नहीं है। 'अनन्त की ओर दृष्टि'' कहकर ही उस चित्र की विशेषता का निरूपण किया जा सकता है। यद्यपि उनकी आँखें अपनी 'दुलारी बिटिया' पर टिकी हैं, तथापि वे मानो जाति, वर्ण तथा मत से निरपेक्ष भाव से विश्व में फैली अपनी समस्त सन्तानों – सम्पूर्ण मानवता की ओर देख रही हैं। निवेदिता के सौजन्य से पूरे जगत् के लोग जगदम्बा को देखने का परम सौभाग्य पाकर धन्य बोध कर रहे हैं।

धन्य हैं श्रीमाँ और उनकी दुलारी 'बिटिया' निवेदिता!
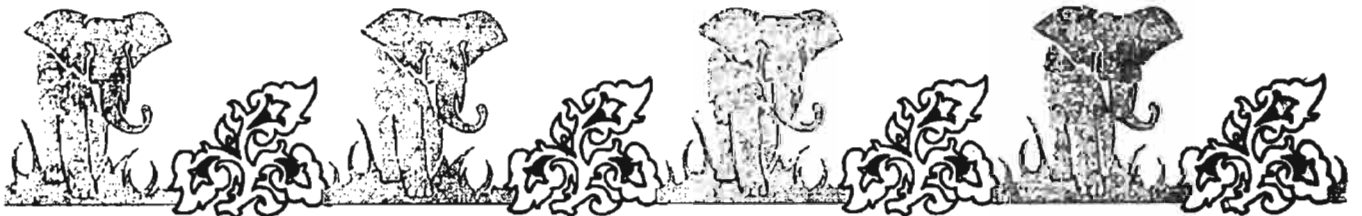
जीना सीखो (१३)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

उन्नति के सोपान

हमारे बीच ऐसे अनेक लोग हैं, जो स्वयं को क्रान्तिकारी कहते हैं और अपने भाषणों में जातिभेद मिटाने की बात करते हैं। उन्होंने न तो इस समस्या की जटिलता को समझा है और न उसे हल करने के साधनों पर विचार किया है। उन्होने न तो इस क्षेत्र के विशेषज्ञों की सलाह ली है और न सच्चे लोगों द्वारा इस समस्या का हल निकालने के प्रयासों के बारे में जाना है। वे सबके सामने अपनी जाति नहीं बताते, परन्तु बातचीत के दौरान अनजाने में ही उसे व्यक्त कर देते हैं। क्या वे वास्तव में जातिगत भेदभाव को न मानने के कारण इसे समाप्त करने का आह्वान करते हैं? क्या उन्होंने अहंकार की उद्दण्डता से ऊपर उठकर बिना किसी पूर्वाग्रह के समस्या का गहन तथा व्यापक अध्ययन करके इस भेदभाव को मिटाने में पथ-प्रदर्शन करने की योग्यता प्राप्त की है? यदि नही, तो वे केवल घृणा एवं छिद्रान्वेषण के ही बीज बोयेंगे।

केवल कठोर शब्दों में अन्धकार को कोसने से कोई लाभ नहीं। अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश लाना होगा। इसे कौन लायेगा? स्वयं अन्धकार में भटकनेवाले क्या दूसरों को प्रकाश का पथ दिखा सकते हैं? जो स्वयं बहे जा रहे हों, वे भला डूबतों को क्या बचायेंगे? केवल शिला पर स्थिर बैठे हुए लोग ही जलधारा के वेग का सामना करते हुए बहते हुओं को बचा सकते हैं। वस्तुत: मानव के यथार्थ 'मैं' की कोई जाति नहीं होती, पर उस 'मैं' या 'आत्मा' का ज्ञान होने तक उसके साथ जुड़े अन्य भावों तथा भावनाओं को दूर करना सहज नहीं है। इन सत्यों का अनुभव करनेवाले ही ठीक ठीक समझते हैं कि कैसे जाति, मत आदि भेदों के रोग लोगों में आरम्भ से ही संक्रमित हो जाते हैं और कैसे यह व्यक्ति की आत्म-धारणा से युक्त होकर उसे निरपेक्ष भाव से सोचने तथा कार्य करने से रोकते है। जिन लोगों ने इस बात का अनुभव किया है, केवल वे ही लोगो को किसी प्रकार की हानि पहुँचाए बिना उन्हे किसी प्रकार ऊपर उठाने में सक्षम हैं।

जब मानव के ज्ञान-क्षितिज का विस्तार होता है, जब वह स्वयं को प्रकाश में लाने का रहस्य तथा जातिभेद से ऊपर उठने का सिद्धान्त जान लेता है, तब समस्या यदि पूरी तौर से समाप्त न भी हो, तो उसकी गम्भीरता में काफी कमी आ जाती है। वस्तुत: यही समस्त नीचता तथा संकीर्णता का नाश करते हुए सच्ची प्रगति का मार्ग प्रशस्त करता है।

सत्य की खोज

हाल ही में घटी एक घटना ने मेरे लिए वैज्ञानिक वृत्ति के एक युक्तिवादी व्यक्ति तथा एक सत्य के शोधक के बीच का अन्तर स्पष्ट कर दिया। विज्ञान में रुचि रखनेवाला मेरा एक मित्र सदैव कहा करता था कि मन के भय तथा अनिश्चितता के फलस्वरूप ही ईश्वर तथा धर्म पर विश्वास उत्पन्न होता है। मैं समझ गया कि उसने कुछ प्रमुख पाश्चात्य विचारकों के भाव आत्मसात् कर लिये हैं। सौभाग्यवश उसने यह नहीं कहा कि शोषण ही सभी धर्मों का मूल है। हम मानते हैं कि कुछ आदिम जनजातियों में भय के कारण ही ईश्वर या धर्म पर विश्वास उत्पन्न हुआ है। परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। सभ्य तथा सुसंस्कृत समुदायों में धार्मिक भाव किसी भय की अभिव्यक्ति नहीं है। दोराहे पर खड़ा व्यक्ति क्षण भर के लिए ठहरकर सही मार्ग के बारे में सोच लेता है। जीवन तथा जगत् सम्बन्धी कुछ मूल प्रश्नो के उत्तर पाने की चेष्टा को ही धार्मिक भावों का उद्‌गम कहना अधिक उपयुक्त होगा। गौतम बुद्ध को क्या भय था? शंकराचार्य के मन में किससे भय था? उपनिषदों के ऋषियों को सत्यान्वेषी कहें या पलायनवादी? सत्य के स्वरूप विषयक अन्तर्दृष्टि से ही भारत में धर्म तथा दर्शन का विकास हुआ। गीता ने अर्जुन के मन का विषाद दूर किया। भारतीय दर्शन को समृद्ध करनेवाले सांख्यवादियों ने जीवन तथा अस्तित्व के पापों से मुक्त होने के साधनों के विषय में जिज्ञासा की नींव रखी। संसार के बन्धनों से मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ने और मन को उसके अनुकूल बनाने के प्रयास से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है। यह अन्तर्जगत् के रहस्यों के अन्वेषण की तीव्र इच्छा है। मेरे मित्र ने इन प्रमुख विचारकों के आचरण को मानसिक सनक का एक रूप मात्र माना था। मैंने उससे पूछा कि मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त किस शताब्दी में विकसित हुआ। क्या आज के वैज्ञानिक खोज पिछली खोजों का खण्डन नहीं करते? और वे भी तो वैज्ञानिक खोजें ही थीं।

मनुष्य क्या भय के कारण जीवन के तात्पर्य तथा उद्देश्य को खोजने का प्रयास करता है? क्या भय के कारण वह सत्य को जानने की तीव्र जिज्ञासा रखता है? यदि सत्य के खोज की तीव्र इच्छा मानसिक सनक हो, तो फिर वैज्ञानिक खोजों के लिए प्रेरणा को भी हम मानसिक सनक ही क्यों न कहें?

निम्नलिखित स्वीकृत तथा प्रणालीबद्ध धारणाओं के द्वारा मेरे मित्र का दृष्टिकोण पहचाना जा सकता है –

□ विज्ञान के आगमन के पूर्व बुद्धिमान या अपूर्व बुद्धि के लोगो का जन्म नहीं हो सकता था।

□ धर्म का विरोध करना ही वैज्ञानिक दृष्टिकोण है – इस अपरिपक्व सिद्धान्त ने बचपन से ही उसके अचेतन मन को प्रभावित किया होगा।

□ विभिन्न सम्प्रदायों के बीच धर्म के नाम पर होनेवाले आपसी झगड़ों, द्वेष, नीचता, शोषण तथा दुर्भाव के कारण उसका धर्म पर से विश्वास उठ गया होगा और उसने कभी धर्मशास्त्रो को समझने का प्रयास नहीं किया होगा।

□ मनोरोगियों के अध्ययन से प्राप्त निकलने वाले अपक्व सिद्धान्तों की अधूरी समझ के आधार पर ही उसने महत्वपूर्ण लोगो के विषय में भी अपनी धारणा बनायी होगी।

यह बात प्राय: तथा स्वाभाविक रूप से देखने में आती है कि किसी चुने हुए क्षेत्र में कोई बड़ी उपलब्धि या सफलता पा लेनेवाले लोग ऐसे दु:साहसी हो जाते हैं कि जिन विषयों का उन्हें कोई ठोस ज्ञान नहीं है, उन पर भी वे अपना आधिकारिक निर्णय देने से नहीं चूकते। उन्हें इस बात का बोध नहीं होता कि अपनी निर्णय-क्षमता में उनका अति-विश्वास निराधार है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर आइसेंक ने कहा है, "वैज्ञानिकों के उनके अपने विशेषज्ञता के विषय को छोड़ दें, तो बाकी क्षेत्रों में वे अन्य लोगों के समान ही साधारण, जिद्दी तथा अयौक्तिक होते हैं और उनकी कुशाग्र बुद्धि उनकी धारणाओं को और भी ज्यादा खतरनाक बना देती हैं।"

अपनी सामाजिक आलोचना को सौम्य बनाओ

मनोवैज्ञानिकों तथा समाजशास्त्रियों के मतानुसार अभिजात वर्ग द्वारा दलितों-शोषितों के मन पर थोपे गये भावों की छाप बड़ी गहरी होती है और उन्हें मिटाना कठिन है।

श्रीरामकृष्ण के एक शिष्य स्वामी सारदानन्द ने एक बार बाल-कल्याण संस्था के संचालक से कहा, "अपनी संस्था को 'अनाथालय' मत कहो, इससे बच्चों में अनाथ तथा असहाय होने का हीन भाव भर जाएगा। उसे बस 'बालगृह' कहो।"

दलितों के उत्थान में निरत एक संन्यासी ने स्वामी सारदानन्द से पूछा, "दलितों की उन्नति का क्या उपाय है?" उन्होंने उत्तर दिया, "दलितों के मन में उनके शोषित होने का भाव बनाये रखना उचित नहीं है। इससे शोषित की भलाई के स्थान पर हानि ही अधिक होती है। इससे वे स्वयं को असहाय समझकर और ऐसा विश्वास करने लगेंगे कि उच्च वर्ग के लोगों ने सदा से उन्हें पराधीन तथा दलित बना रखा है। इससे उनमें आत्मविश्वास तथा आत्मनिर्भरता आने में विलम्ब होगा। यदि यह भाव मन में जड़ें जमा ले, तो दलित व्यक्ति सदा उच्च वर्गों को घृणा तथा सन्देह की दृष्टि से ही देखेगा। और यह बात न केवल समाज के उच्च वर्ग के लिए, अपितु सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों के लिए भी हानिकारक सिद्ध होगी। निरन्तर घृणा तथा शंका के भाव पालकर कोई भी सत्कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता।"

पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा की गुणवत्ता तथा जातिगत विशेषताएँ आदि से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के अनुसार विकास के विभिन्न स्तर के व्यक्तियों को मिलाकर समाज बनता है। इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। दूसरी कक्षा के छात्र को तीसरी कक्षा के छात्र से ईर्ष्या करने की जरूरत नहीं। यथासमय वह भी तीसरी कक्षा मे आ जायेगा। वैसे इसका अर्थ यह नहीं कि समाज की उच्च श्रेणियों में कोई शोषक नहीं है और निम्न श्रेणियों में कोई शोषित नहीं है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि दमन के विरुद्ध कोई संगठित विरोध न किया जाय। पर हमारे लिए यह जानना बहुत जरूरी है कि हीनभावना से उत्पन्न आत्मधारणा के फलस्वरूप होनेवाले घृणाभाव में आत्मनाश के बीज निहित होते हैं। कर्नाटक के महान् सुधारक सन्त बसवन्ना के शब्दों में 'पहले तो यह उसी व्यक्ति को जलाती है और तदुपरान्त आसपास के लोगों को।'

मनो-चिकित्सकों तथा समाज-सुधारकों ने जीवन के एक बड़े ही कारुणिक तत्त्व को खोज निकाला है। एरिक एरिक्सन ('आइडेन्टिटी, युथ एण्ड क्राइसिस' के लेखक) ने कहा, "चिकित्सकीय तथा सुधारात्मक प्रयासों से इस दुखद तथ्य का सत्यापन हुआ है कि अलगाव, दमन तथा शोषण पर आधारित किसी भी व्यवस्था में इनके शिकार लोग अनजाने ही उस बुरी आत्मधारणा को स्वीकार कर लेते हैं, जो प्रबल लोगों के द्वारा उन पर थोपी जाती है।"

प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के अनुसार यदि किसी समुदाय को घृणा, दुराचार तथा शोषण का शिकार बनाया जाता है, तो सम्भव है कि वह शासक या शोषक वर्ग के द्वारा प्राय: अपने लिए उपयोग में लायी जानेवाली दुष्ट, पापी, अयोग्य, बेकार आदि उपाधियों के साथ अपनी आत्मधारणा का तादात्म्य स्थापित कर ले। इससे मन में अपनी योग्यता के बारे में शंका आ जाती है और तब सम्भव है कि व्यक्ति स्वयं से ही घृणा करने लगे। दूसरे शब्दों में, ये भावनाएँ मनुष्य के सर्वांगीण विकास का सर्वनाश कर डालती हैं।

किसी भी समुदाय में जो लोग आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से और धर्म तथा साधना के क्षेत्र में दूसरों से आगे बढ़ गये हैं; उनमें जाने-अनजाने अपने से कम भाग्यशालियों के समक्ष अपने फूले हुए अहंकार को प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति हुआ करती है। वे अपने पिछड़े भाइयों को तिरस्कार तथा कटाक्ष के साथ 'मूर्ख, जड़ या आलसी' कहा करते हैं। उनकी यह आदत जितनी जल्दी छूट जाय, उतना ही पूरे समाज का भला होगा। शोषण के समर्थकों और तथाकथित उन्नत लोगों

में अहं तथा बड़प्पन के भाव के रूप में उपस्थित रहनेवाली यह प्रवृत्ति उन शिक्षा तथा संस्कृति से वंचित रहे लोगों के आत्मविश्वास को चोट पहुँचाती है और उनकी अपनी उन्नति के प्रयास में भी बाधक होती है। क्या ये लोग कभी ठहरकर सोचते हैं कि उनकी घृणा तथा तिरस्कार की प्रवृति से पिछड़े हुए लोगों को कितनी चोट पहुँच रही है? यदि उनमें इतनी भी समझ नही कि गरीब-दलित लोगों की आत्मधारणा में नकारात्मक भावों का रोपण करने से स्वयं की हानि और अन्तत: सर्वनाश होगा, तो स्वयं को श्रेष्ठ समझने से उन्हें क्या लाभ? मानव का मूल्यांकन उसकी तात्कालिक सीमितताओं तथा दुर्बलताओं के आधार पर नहीं, बल्कि उसमें निहित विकास तथा उपलब्धि की सम्भावनाओं के आधार पर होना चाहिए। हमें व्यक्ति को उसकी उपलब्धि की सम्भावनाओं के आधार पर ही उसका आकलन करने की आदत डालनी होगी। अन्यथा हमारा समाज स्वयं ही अपने विकास के मार्ग में अवरोध खड़े करता रहेगा। उसने पहले से ही अनेक अवरोध खड़े कर रखे हैं। क्या हमारे शिक्षित युवकों में ऐसी चेतना के विकास के लक्षण दिखाई देते हैं?

बड़ों तथा शिक्षित लोगों द्वारा अपने बच्चों की शिक्षा के एक अंग के रूप में और स्वयं के आचरण तथा उदाहरण द्वारा व्यक्ति के प्रति सम्मान का यह भाव भरना चाहिए। इस दृष्टि से अधिकारियों, बुद्धिजीवियों, व्यवसायियों, प्रशासकों तथा उच्च वर्ग के लोगों के ऊपर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। कम-से-कम उन्हें अपने ही हित के लिए इन लोगों के मन से हीन भावना निकालकर आत्मविश्वास भरने की चेष्टा करनी चाहिए।

यदि वे कुछ ठोस करने की स्थिति में न हों, तो भी कम-से-कम उन्हें सच्चे हृदय से इन लोगों के कल्याण तथा उत्थान के लिए प्रार्थना तो करनी ही चाहिए। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि हममें बुद्धिजीवी कहलाने वाले अधिकांश लोग इस दिशा मे असफल रहे हैं। वे एक मूलभूत मानवीय समस्या को समझने में असफल रहे हैं।

हीन-भावना का उन्मूलन

जो लोग सांस्कृतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक दृष्टि से अपने को हीन महसूस करते हैं, उन्हें सर्वप्रथम तो अपनी हीन भावना को दूर कर देना चाहिए। इसकी जड़ें चाहे कितनी भी गहरी क्यों न हों, उन्हें उखाड़ना सम्भव है। वैसे किसी बेकार वस्तु को फेंक डालना भी आसान नहीं है। हमारी प्रथम और प्रमुख आवश्यकता या बल्कि कर्तव्य है कि हम अपने अन्दर छिपी अनन्त शक्ति में विश्वास विकसित करें। पूर्वकाल में ऋषियो तथा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि सम्पन्न लोगों ने हमें समझाने का प्रयास किया कि मानव की आपात सीमित शक्तियों के पीछे अनन्त शक्तियाँ छिपी है; हमें केवल उन्हें व्यक्त करने के कौशल की जरूरत है। आज मनोवैज्ञानिक भी अपने प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर उसी की पुष्टि कर रहे हैं। उन शक्तियों को जाग्रत करने के लिए केवल आत्मविश्वास की ही आवश्यकता है। हमे अपनी वर्तमान अवस्था से ऊपर उठने की चेष्टा करनी चाहिए। प्रयास के द्वारा एक एक सीढ़ी चढ़ते हुए हमें धीरे धीरे सफलता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

हमें निर्बल बनानेवाली जो भी नकारात्मक भावनाएँ हममें विकसित हो गई है, उन्हें हटाना होगा। हमे अपने आत्मविश्वास को सबल बनाने की पद्धति विकसित करनी होगी। यह एक दिन में नही हो सकता। आरम्भ में यह असम्भव भी प्रतीत हो सकता है, परन्तु धैर्य तथा सतत प्रयास से हमें कठिनाइयों को पार करने तथा आत्मविश्वास प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। हमारे भीतर निहित अनन्त ऊर्जा का भण्डार व्यक्त किये जाने की प्रतीक्षा कर रहा है – इसका बोध होना ही आत्मविश्वास है। इसके अभाव में चिन्ता, भय, शंका, अकुशलता तथा हर तरह की निर्बलता आ जाती है। यंह आत्मविश्वास हमें प्रभाव-शाली तथा शक्तिशाली लोगों की दया पर निर्भर होने से रोकता है, हमारे मन को घृणा तथा निराशा से बचाता है और हमें अपने पैरों पर खड़े होने को प्रेरित करता है। इसी आत्म-विश्वास के उत्साह से जीवन में आनेवाले प्रत्येक अवसर का लाभ उठाकर सफल होने की प्रेरणा मिलती है।

स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि स्वयं को निर्बल तथा पापी समझना ही सबसे बड़ा पाप है। यदि कुछ विश्वास ही करना है, तो यह विश्वास करो कि हम सभी ईश्वर की सन्तान हैं, हम सभी उन्हीं के अंग हैं और उनकी अनन्त शक्ति तथा अनन्त आनन्द के अधिकारी हैं।

ये केवल मिथ्या आश्वासन देनेवाले अलंकृत शब्द नहीं हैं। यह एक ऐसे महापुरुष की वाणी है, जिन्होंने मनुष्य के अन्दर छिपी दिव्यता तथा अनन्त शक्ति को देखा था। जो लोग थोड़ा-सा भी इसे जीवन में क्रियान्वित करने का प्रयास करेंगे, उन्हें इस विश्वास को अपनाने से प्राप्त हो सकने वाली ऊर्जा तथा शक्ति का अनुभव हो सकेगा।

❖ (क्रमश:) ❖

दुःख और उसका निवारण

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, अम्बिकापुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मानव-जीवन सुख और दुःख से भरा है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं होगा, जिसके जीवन में केवल सुख-ही-सुख हो या कि केवल दुःख-ही-दुःख। हाँ, यह बात सत्य है कि जीवन में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है। थोड़ा-सा सुख पाने के लिए हम कितना दुःख उठाते हैं, बहुधा इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता।

जीवन के दुःखों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। एक श्रेणी वह है, जहाँ दुःख सुख के आगे आगे चलता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि दुःख की प्रक्रिया में से गुजर कर मनुष्य को सुख प्राप्त होता है। एक घण्टे फुटबाल का मैच देखकर सुख की संवेदना पाने के लिए कलकत्ते में लोग टिकट खरीदने के लिए खुले आकाश के नीचे ४८-४८ घण्टे क्यू में लगकर वर्षा तथा धूप का कष्ट सहा करते हैं। धन की प्राप्ति हमारे मन में सुख की संवेदना उठाती है, पर इसके लिए हमें कितना श्रम करना पड़ता है, कितना कष्ट उठाना पड़ता है! भोग के साधन जुटाने के लिए हमें कितना कष्ट झेलना पड़ता है! फिर, इसी प्रकार जब सुख की संवेदना नष्ट होती है, तब भी हमें दुःख होता है। इसे अनिवार्य दुःख कहा जा सकता है। यदि तनिक गहराई से सोचें, तो देखेंगे कि इस अनिवार्य दुःख के मूल में हमारी तृष्णा विद्यमान है। तृष्णा को महाभारत में 'प्राणान्तक रोग' कहा गया है – **योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्**। इस दुःख से उबरने का रास्ता तृष्णा के त्याग को बताया गया है।

दुःख का दूसरा प्रकार वह है, जो हम पर बलपूर्वक थोपा जाता है। हम उसे नहीं लाते, बल्कि वही स्वयं आकर हम पर हावी हो जाता है। जैसे, हम रास्ते में जा रहे हैं और कोई वाहन आकर हमसे टकरा गया, हमारी हड्डी टूट गयी और हम महीनों प्लास्टर में बँधे पड़े रहे। या फिर हमें किसी रोग ने धर दबोचा। दुःख के ये रूप ऐसे हैं, जिन्हें हमने नहीं बुलाया था, पर जो खुद आकर हमें पीड़ित करते हैं। उनसे बचने का कोई उपाय नहीं है। तो फिर इन दुःखों के लिए क्या किया जाय? गीता में हमें इसका उत्तर मिलता है, जहाँ कहा है – **तांस्तितिक्षस्व भारत** – अर्जुन, उनको सहन करो। ऐसे अपरिहार्य दुःख को सह लेना पड़ता है।

एक तीसरे प्रकार का दुःख है, जो न परिहार्य है, न अपरिहार्य, पर जिसे हम स्वयं ले आते हैं। बात अटपटी लग सकती है, पर है सत्य, और वह है – ईर्ष्या से पैदा होनेवाला दुःख। इसे 'आत्मकृत्' अर्थात् खुद पैदा किया गया दुःख भी कहते हैं। इसके कारण हम दूसरों के सुख को देखकर स्वयं दुःख का अनुभव करते हैं। इसे बोलचाल की भाषा में डाह भी कहते हैं। मन की यह वृत्ति बड़ी विचित्र है, यह हमें अकारण ही जलाती है। हमने अपने पड़ोसी के घर रेफ्रीजिरेटर क्या देखा कि हमारी ईर्ष्याग्नि भड़ककर हमें जलाने लगती है। यदि मेरा कोई परिचित अपने किसी प्रशंसनीय कार्य के कारण जनप्रिय और यशोधन हो जाता है, तो वह मुझे सुहाता नहीं। यदि किसी को लाटरी मिल जाती है, तो मेरा हृदय कचोटने लगता है। हमारे एक परिचित सज्जन एक घटना सुनाया प्रकरते हैं। एक वर्ष उनके किसी परिचित ईंट के ठेकेदार को अच्छा मुनाफा हुआ। उससे भेंट होने पर वे उससे बोले, "इस साल तो आपको अच्छा-खासा लाभ हुआ है!" "क्या खाक लाभ हुआ, पिछले साल तो घाटा हो गया था!" – ठेकेदार का उत्तर था।

"पिछले साल की बात छोड़िए, इस साल तो आपको खुशी मनानी चाहिए" – वे बोले।

"क्या खुशी मनाऊँ, मेरे पड़ोसी ठेकेदार को तो दुगुना फायदा हुआ है!" – ठेकेदार शिकायत के स्वर में कहा।

यह आत्मकृत् दुःख है। इसे हमें अपने मन का जोर बढ़ाकर बलपूर्वक झटक देना चाहिए। तो, अनिवार्य दुःख को दूर करने का उपाय है, तृष्णा पर अकुश लगाना, अपरिहार्य दुःख को सह लेना चाहिए तथा आत्मकृत् दुःख को मन का जोर लगाकर पुरुषार्थ के द्वारा झटककर दूर कर देना चाहिए।
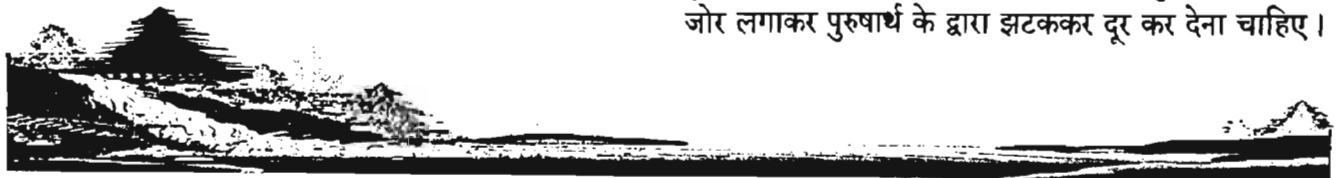
ईसप की नीति-कथाएँ (१३)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आविर्भूत ईसप, कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश मे जन्मे और यूनान में निवास करनेवाले एक गुलाम थे। उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातकों तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। इन कथाओं में व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी हैं। – सं.)

गधा और छोटा कुत्ता

एक व्यक्ति के पास एक गधा और एक अत्यन्त सुन्दर छोटा-सा कुत्ता था। गधा अपने अस्तबल में रहता और उसके लिए अन्य गधों के समान ही बहुत सारा घास तथा चारा डाल दिया जाता। छोटा कुत्ता बहुत-से खेल जानता था और अपने मालिक का बड़ा प्रिय था। मालिक उसे काफी दुलार करता था और कही खाने जाने पर उसके लिए भी कुछ-न-कुछ खाने को ले आता था। दूसरी ओर गधे को खेत से सामान ढोने, जंगल से लकड़ियाँ लाने तथा मिल में अनाज की पिसाई आदि में काफी परिश्रम करना पड़ता था। बहुधा वह कुत्ते के आराम तथा आनन्द से पूर्ण जीवन के साथ अपने दुर्भाग्य की तुलना करते हुए स्वयं को कोसता रहता।

आखिरकार उससे नहीं रहा गया। उसने भी कुत्ते की नकल पर मालिक को खुश करने का निश्चय किया। एक दिन वह अपनी रस्सियाँ तुड़ाने के बाद उछलकर मालिक के कमरे में घुस गया और अपने पाँवों को उठा-उठाकर खेल दिखाने का प्रयास करने लगा। इसके बाद वह कुत्ते की ही भाँति अपने मालिक के चारों ओर कूदने की चेष्टा करने लगा। परन्तु इसके फलस्वरूप वह मेज से जा टकराया और मेज के साथ-ही-साथ उस पर रखे सारे बरतन टूट गये। उसके बाद उसने मालिक को चाटने के लिए उसकी पीठ पर चढ़ने की कोशिश की।

नौकरो ने यह विचित्र शोरगुल सुना और अपने मालिक के ऊपर आये हुए खतरे को भाँपकर जल्दी से आकर उसे बचाया और गधे को डण्डों से मारते-पीटते हुए हाँककर अस्तबल में ले गये। मरणासन्न हालत में अपने खूंटे पर पहुँचकर गधा पश्चात्ताप करते हुए बोला, "यह सब मेरी अपनी करनी का फल था! उस निकम्मे कुत्ते के समान दिन भर चुहलबाजी करने की इच्छा की जगह मुझे अपने साथियों के समान परिश्रम करते हुए ही सन्तुष्ट रहना उचित था।

सिंहनी

एक बार जानवरों के बीच विवाद छिड़ा कि किस जन्तु को एक बार में सर्वाधिक बच्चे पैदा करने का गौरव हासिल है। वे सभी धक्का-मुक्की करते हुए इस विवाद के निपटारे हेतु सिहनी के पास जा पहुँचे। उन लोगों ने पूछा, "आपके एक बार मे कितने बच्चे होते है?" सिंहनी उन पर हँसने लगी और बोली, "बस एक ही, परन्तु वह सच्चा सिह होता है।"

कार्य का महत्व है, संख्या का नहीं।

बिल्ली और मुर्गा

एक बिल्ली ने एक मुर्गे को पकड़ लिया और सोचने लगी कि इसे मारकर खाने के लिए कौन-सा युक्तिसंगत बहाना गढ़ा जाय। उसने मुर्गे पर आरोप लगाते हुए कहा कि तुम रात में बॉग देकर लोगो की नींद में खलल डालते हो और इस प्रकार उन्हें कष्ट पहुँचाते हो। मुर्गे ने अपने बचाव में कहा कि वह लोगो की सुविधा के लिए ही ऐसा करता है, ताकि लोग उठकर अपने अपने काम में लग जायँ। बिल्ली ने कहा, "वैसे तुम बहाने बनाने में बहुत तेज हो, परन्तु मैं बिना भोजन के नहीं रह सकती।" इतना कहकर वह उस मुर्गे को मारकर खा गयी।

सूअर, भेड़ तथा बकरी

एक बकरी तथा एक भेड़ के साथ ही एक सूअर का बच्चा भी बाड़े में बन्द था। एक बार जब गड़ेरिये ने उसे पकड़ा, तो वह चिग्घाड़ते हुए पूरे ताकत के साथ प्रतिरोध करने लगा। भेड़ तथा बकरी उसकी इस चिल्लाहट पर शिकायत करते हुए कहने लगे, "वह तो हमें भी पकड़ता है, परन्तु हम तो इस प्रकार आसमान सिर पर नहीं उठा लेतीं।" इस पर सूअर ने उत्तर दिया, "तुम लोगों को पकड़ने और मुझे पकड़ने में बड़ा अन्तर है। वह तुम लोगों को तो ऊन या दूध निकालने के लिए ही पकड़ता है, परन्तु वह मुझे तो मेरा पूरा जीवन लेने के लिए ही पकड़ता है।"

बालक और मूंगफलियाँ

एक बालक ने मूंगफलियों से भरे एक घड़े में हाथ डाला। अपने हाथ से जितना भी हो सकता था, उसने अधिक-से-अधिक मात्रा मे मूंगफलियाँ पकड़ लीं, परन्तु जब उसने हाथ बाहर निकालने का प्रयास किया, तो घड़े की गरदन पतली होने से वह सफल नही हुआ। मूंगफलियो को छोड़ने में अनिच्छुक वह बालक अपना हाथ निकाल पाने में अक्षम होकर रोने तथा आँसू बहाने लगा। पास ही खड़ा एक व्यक्ति बोला, "यदि तुम इसकी आधी मात्रा से सन्तुष्ट हो जाओ, तो तुम सहज ही अपना हाथ बाहर खींच सकोगे।"

एक बार में बहुत अधिक के लिए प्रयास उचित नहीं है।

सिंह की शादी

एक सिंह ने एक लकड़हारे से अनुरोध किया कि वह उसके साथ अपनी पुत्री को ब्याह दे। लकड़हारे की इच्छा तो नही थी, परन्तु उसे सीधे सीधे मना करने में भय भी लग रहा

था । अत: उसने एक शर्त पर सिंह को अपनी कन्या के वर के रूप में स्वीकार करने की बात मान ली – उसकी पुत्री सिंह के दाँत तथा पंजों से बड़ा डरती थी, इसलिए उसकी शर्त यह थी कि सिंह उसे अपने दाँत निकालने तथा नख काट डालने की अनुमति दे दे । सिह इस प्रस्ताव पर सहज ही राजी हो गया । परन्तु जब दन्त-नख से रहित सिंह अपना अनुरोध दुहराने आया, तो लकड़हारे के लिए अब भय का कोई कारण न था । वह हाथ में कुल्हाड़ी लिए सिंह पर टूट पड़ा और उसे जंगल में खदेड़ आया ।

भेड़ की खाल में भेड़िया

एक बार एक भेड़िये ने अपना रूप बदलने का निश्चय किया, ताकि उसे अपना भोजन पाने में सुविधा हो । वह भेड़ की खाल ओढ़कर अपने वेश के द्वारा गड़ेरिये को धोखा देकर भेड़ों में मिल गया और उन्हीं के समान चरने का अभिनय करता रहा । शाम हो जाने पर गड़ेरिये ने उसे भेड़ों के साथ ही बाडे में घुसाकर दरवाजे को भलीभाँति बन्द कर दिया । परन्तु गड़ेरिया जब अगले दिन के लिए मांस लेने रात में बाड़े में आया, तो उसने भेड़ की जगह गल्ती से भेड़िये को ही पकड़ लिया और उसे तत्काल मार डाला ।

दूसरों का बुरा चाहनेवाला स्वयं बुराई का शिकार होता है।

बीमार हिरन

एक बीमार हिरन अपने चरागाह के एक निर्जन कोने में पड़ा था । उसके बहुत-से मित्र उसका हाल-चाल पूछने आये और उनमें से प्रत्येक उसके लिए रखे गये भोजन में थोड़ा थोड़ा मुँह लगा देता था । इसके फलस्वरूप हिरन का देहान्त हो गया, परन्तु बीमारी के कारण नहीं, बल्कि भूख से ।

नासमझ मित्रों से लाभ की जगह हानि की ही सम्भावना अधिक होती है ।

मजदूर और साँप

एक साँप ने एक मजदूर की झोपड़ी के पास अपना बिल बना रखा था । एक दिन उसके काटने से मजदूर के शिशु पुत्र की मृत्यु हो गयी । पुत्रशोक से आकुल होकर किसान ने साँप को मार डालने का संकल्प किया । अगले दिन जब साँप भोजन की तलाश में अपने बिल से निकला, तो मजदूर अपनी कुल्हाड़ी के साथ तैयार खड़ा था । परन्तु उसने वार करने के लिए कुल्हाड़ी को इतने दूर तक घुमाया कि उसका निशाना चूक गया और साँप के सिर के स्थान पर उसकी पूँछ का किनारा कटकर रह गया । अब मजदूर डरा कि कहीं साँप उसे छिपकर काट न ले, अत: उसके साथ समझौता करने के लिए उसने उसके बिल के पास एक बरतन में थोड़ा-सा दूध रख दिया । साँप ने यह देख धीरे से फुफकारते हुए कहा, "अब हम दोनों के बीच कभी समझौता नहीं हो सकता, क्योंकि जब जब मैं तुम्हें देखूँगा, तब तब मुझे अपनी कटी पूँछ की याद आयेगी और जब जब तुम मुझे देखोगे, तब तब तुम्हें अपने मरे हुए पुत्र की स्मृति आयेगी ।"

पीड़ा देनेवाले की उपस्थिति में कोई भी अपनी पीड़ा को भुला नहीं सकता ।

मेढकों द्वारा राजा की माँग

राजा न होने के कारण दुखी होकर मेढकों ने बृहस्पति देवता के पास दूत भेजे कि वे उनके लिए एक राजा की व्यवस्था करें । मेढकों की सरलता देखकर उन्होंने तालाब में लकड़ी का एक बड़ा लट्ठा फेंक दिया । उसके गिरने की आवाज से डरकर मेढक आतंकित हो गये और तालाब के भीतर जाकर छिप गये । परन्तु जब उन्हें लगा कि यह विशाल लट्ठा बेजान है, तो वे फिर तैरकर पानी के ऊपर आ गये और अपना डर भूल उसके ऊपर चढ़कर अभिमानपूर्वक बैठ गये । थोड़ी देर बाद जब उन्हें लगा कि ऐसा जड़ राजा देकर उनका अपमान किया गया है, तो उन्होंने पुन: बृहस्पति देवता के पास एक शिष्ट-मण्डल भेजा कि वे उनके लिए एक अन्य राजा की नियुक्ति कर दें । इस बार उन्होंने उन पर शासन करने को एक ईल मछली भेज दी । जब मेढकों को ईल के अच्छे स्वभाव का पता चला, तो उन्होंने तीसरी बार एक अन्य राजा के लिए अनुरोध भेजा । बृहस्पति अब तक उनकी शिकायतों से परेशान हो चुके थे । उन्होंने एक बगुले को भेज दिया । बगुला दिन-पर-दिन एक एक कर मेढकों को खाने लगा और अन्तत: तालाब में टर्राने के लिए एक भी मेढक नहीं बचा ।

बकरे और कसाई

कसाई लोग ऐसा व्यवसाय करते थे, जिससे बकरों की पूरी जाति को ही नुकसान पहुँच रहा था । अत: एक बार बकरों ने सभी कसाइयों को मार डालने का संकल्प किया । वे लोग अपने निश्चय को कार्य रूप में परिणत करने के लिए एक विशेष दिन एकत्र हुए और युद्ध के लिए अपने सिंगों को तेज करने लगे । उनमें से एक अत्यन्त वृद्ध बकरा बोला, "यह सत्य है कि ये कसाई हमारी हत्या करते हैं, परन्तु यह कार्य वे बड़ी निपुणता के साथ करते हैं, जिसके कारण हमें अनावश्यक पीड़ा नहीं होती । यदि हमने उन्हें मार डाला, तो हम अनाड़ियों के हाथ में पड़ेंगे और इसके फलस्वरूप हमें और भी अधिक पीड़ादायी मृत्यु का कष्ट सहना पड़ेगा; क्योंकि आप लोग निश्चित रूप से जान लें कि भले ही सारे कसाई समाप्त हो जायँ, तो भी क्या मनुष्य मांस खाना छोड़ देंगे?"

हमें देखना होगा कि जल्दबाजी में एक बुराई को दूर करने के प्रयास में लगकर कहीं हम दूसरी – उससे भी बड़ी बुराई को आमंत्रण न दे बैठें । ❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द का महाराष्ट्र-भ्रमण (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अमेरिका की ओर प्रस्थान करने के पूर्व स्वामीजी ने कई वर्षो तक उत्तर से लेकर दक्षिण भारत का सुदीर्घ भ्रमण किया था। उनके जीवन के इस काल की अनेक बाते अज्ञात या अल्पज्ञात हैं । यहाँ पर हमने विभिन्न अंग्रेजी, बँगला, मराठी तथा गुजराती ग्रंथों के आधार पर उनके महाराष्ट्र तथा वहाँ के निवासियों के साथ स्वामीजी के सम्पर्क का विवरण देने का प्रयास किया है । कुछ नवीन जानकारियाँ भी सम्मिलित है ।)

प्रस्तावना

"कभी कभी समय के दीर्घ अन्तराल के बाद एक ऐसा व्यक्ति हमारे भूमण्डल पर आ पहुँचता है, जो निःसदिग्ध रूप से किसी अन्य लोक से आया हुआ एक पर्यटक होता है; जो उस सुदूरवर्ती क्षेत्र की महिमा, शक्ति तथा दीप्ति का कुछ अंश इस दुखपूर्ण संसार में लाता है । इस मर्त्यलोक का न होकर भी वह मनुष्यों के बीच विचरता है । वह मानो एक तीर्थयात्री है, एक अजनबी – जो केवल एक रात ही यहाँ ठहरता है ।

"वह अपने आसपास के लोगों के जीवन से स्वयं को सम्बद्ध पाता है; उनके हर्ष-विषाद का भागीदार बनता है; उनके साथ सुखी होता है और उनके साथ दुखी भी होता है; परन्तु इन सब के बीच वह यह कभी नहीं भूलता कि वह कौन है; कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का उद्देश्य क्या है । वह कभी अपने दिव्यत्व को विस्मृत नहीं करता है । सदैव स्मरण रखता है कि वह महान्, तेजोमय तथा महामहिमामय आत्मा है । वह जानता है कि वह वर्णनातीत स्वर्गीय भूमि से आया है, जहाँ सूर्य या चन्द्रमा की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि वह स्थान आलोकों के आलोक से आलोकित है । वह जानता है कि जब 'ईश्वर की सभी सन्तानें एक साथ आनन्द के लिए गान कर रही थीं । उसके भी बहुत पहले उसका अस्तित्व था । ... धन्य है वह देश, जिसने उसे जन्म दिया, धन्य हैं वे लोग, जो उस समय पृथ्वी पर उपस्थित थे और त्रिवार धन्य हैं वे कुछ लोग, जिन्हें उसके चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला ।"

स्वामी विवेकानन्द के पृथ्वी पर अवतरण तथा संचरण के विषय में उपरोक्त उद्गार व्यक्त किये हैं उनकी अमेरिकी शिष्या भगिनी क्रिस्टिन ने । स्वामीजी ने अपनी युवावस्था में ही अपने गुरुदेव के लीला-संवरण के उपरान्त एक परिव्राजक के रूप में कई वर्षो तक उत्तरी तथा पश्चिमी भारत का भ्रमण किया था। उस समय अनेक स्थलों को उनकी चरणरज पाकर धन्य होने का सौभाग्य मिला और अनेक लोग उनके सम्पर्क में आकर कृतार्थ हुए । अपने बहुमूल्य अल्पकालिक जीवन का इतना महत्वपूर्ण अंश उन्होने इस प्रकार यात्रा करने में क्यों बिताया?

श्रीरामकृष्णदेव का कहना था कि मनुष्य को यदि आत्महत्या करनी हो, तो उसके लिए एक नहरनी ही यथेष्ट है, परन्तु दूसरो को मारने के लिये उसे ढाल, तलवार आदि से सुसज्जित होना पड़ता है । मनुष्य के अपने आत्मबोध के लिए उसे थोड़ा सा ज्ञान ही काफी है, परन्तु जिन्हें जगद्गुरु अथवा युगाचार्य की भूमिका सम्पन्न करनी हो, विश्व में ज्ञानालोक का विस्तार करना हो, विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति लानी हों और समाज को नवीन पथ दिखाना हो, तो उसके लिये सभी विषयों का और विशेषकर समकालीन सभ्यता-संस्कृति का प्रत्यक्ष एवं यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है ।

स्वामी विवेकानन्द वर्तमान विश्व को एक अभिनव दिशा देने हेतु अवतीर्ण हुए थे, अत: उनके लिए विश्व का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास सहज-स्वाभाविक था । सर्वप्रथम उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में कॉलेज की शिक्षा प्राप्त करते समय अंग्रेजी तथा संस्कृत भाषा में उपलब्ध जगत् के सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात् किया । तत्पश्चात् उन्होने भगवान श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठकर भारत की सनातन आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार साधना करके निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्मतत्त्व की उपलब्धि की और आखिरकार अपने देश की सभ्यता, संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का प्रत्यक्ष अवलोकन कर उनका मूल्यांकन करने हेतु उन्होंने सुदीर्घ परिव्राजक जीवन अंगीकार किया ।

अपनी इस परिदर्शन तथा अध्ययन-यात्रा के दौरान १८९१ ई. के प्रारम्भ से लगभग दो वर्षों तक स्वामीजी ने निरन्तर उत्तर भारत, दिल्ली, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, केरल तथा तमिलनाडु का दौरा किया था । इस भ्रमण के समय विभिन्न प्रान्तों के असंख्य लोगों के साथ उनका सम्पर्क हुआ – जिनमें अनेक महान राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक, वेद-वेदान्त के विद्वान्, सुविख्यात गायक-वादक, धर्माचार्य, राजा-महाराजा भी थे, इन दिनों कभी वे अछूत की कुटिया में निवास करते, तो कभी किसी राजा के महल में और इस प्रकार वे हर प्रकार के अनुभव एकत्र कर रहे थे । स्वामीजी के साथ चर्चा करके, विचारो के आदान-प्रदान से अनेक लोगों के मन में वर्षों से बद्धमूल अन्धविश्वासों को धक्का लगा और उनके जीवन में आमूल परिवर्तन आया । इस दौरान अनेक रोचक तथा प्रेरक घटनाएँ हुईं । इन समस्त घटनाओं तथा चर्चाओं का यदि यथावत् विवरण मिल पाता, तो उससे अनेक खण्डों का एक अभूतपूर्व ग्रन्थ तैयार हो जाता । परन्तु दुर्भाग्यवश स्वामीजी के जीवन के इस काल की सुविस्तृत जानकारी हमें नहीं मिल पाती । इस प्रसंग में स्वामीजी के सुप्रसिद्ध जीवनीकार श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार लिखते है – "उनके भारत-भ्रमण सम्बन्धी कई बाते हमे ज्ञात नहीं है, क्योंकि उन्होंने रोजाना कोई डायरी नही लिखी थी । बाद में यत्र-तत्र उनकी कोई बात सुनकर

अथवा जिन व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई थी, उनसे कुछ घटनाएँ सुनकर, जहाँ तक सम्भव हो सका है उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया है, फलत: कहीं कहीं भूल-भ्रान्ति रह जाना अनिवार्य है, प्रत्येक परवर्ती संस्करण में मैंने इस भूलों को सुधारने का यथासाध्य प्रयास किया है ।''

स्वामी विवेकानन्द के कनिष्ठ भ्राता श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने भी उनके जीवन के अज्ञात तथ्यों का संकलन करने का प्रयास किया है । वे अपनी 'श्रीमत् विवेकानन्देर स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' नामक बँगला पुस्तक (२/१५३) में लिखते हैं – ''गुजरात, काठियावाड़ तथा अन्य स्थानों का दर्शन करने के बाद स्वामीजी बम्बई प्रान्त की ओर चले गये । इन दिनों वे किसी को पत्र आदि नहीं लिखते थे तथा किसी परिचित व्यक्ति से मिलते भी नहीं थे । तब उनमें तीव्र वैराग्य तथा उदासीनता का भाव था । ... इसी कारण उनके (जीवन के) इस काल का कोई विशेष विवरण संग्रहित नहीं किया जा सका है, विविध स्थानों से अल्पमात्र ही प्राप्त हुआ है ।''

उपरोक्त दो उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों स्वामीजी के पश्चिमी भारत में भ्रमण का सविस्तार विवरण नहीं मिलता । प्रश्न यह भी उठता है कि स्वामीजी ने क्यों अपने परिव्राजक जीवन का इतना सुदीर्घ अंश पश्चिमी भारत में बिताया? क्यों उन्होंने इस अंचल को इतना अधिक महत्त्व दिया? श्री शचीन्द्रनाथ बसु ने प्रत्यक्ष रूप से स्वामीजी के मुख से सुनकर, उनसे बातचीत का कुछ अंश अपने एक पत्र में दिया है, जिसमें उन्होंने कहा था – ''मैं तुम लोगों से सर्वदा कहा करता हूँ कि यदि कन्याकुमारी से अल्मोड़ा तक एक सीधी रेखा खींची जाय; तो इसका जो पूर्वी भाग होगा, वह बिल्कुल ही अनार्य है, असभ्य, रंग भी काले भूतों जैसा है, फिर वेदविरोधी, परदा प्रथा, विधवाओं को जलाना, कुलगुरु आदि भी अनार्य प्रथाएँ प्रचलित हैं । और पश्चिमी भाग सभ्य, आर्य तथा पौरुष सम्पन्न है – कैसे आश्चर्य की बात है! ... उधर के पुरुष सब सुन्दर, स्त्रियाँ सब रूपवती हैं, गाँव स्वच्छता के नमूने हैं, बड़े स्वास्थ्यकर तथा समृद्ध हैं । धर्म भी देखो तो बंगाल में कुछ नहीं है ।''[१]

स्वामीजी का तात्पर्य यह था कि पश्चिमी भारत में आर्य संस्कृति तथा वैदिक धर्म अब भी सुप्रतिष्ठित तथा जीवन्त है, जबकि पूर्वी भारत में वह अपनी जड़ें नहीं जमा सका है । स्वामीजी के जीवनकाल में भी आसाम-बंगाल तथा पूर्वी क्षेत्र में पतनशील बौद्धधर्म के प्रभाव से तंत्र-मंत्र तथा वामाचार का काफी प्रभाव था और सनातन वैदिक परम्परा लुप्त हो चुकी थी । अत: बची-खुची आर्य परम्परा को देखना-समझना भी स्वामीजी के उक्त अंचल में भ्रमण करने का एक कारण था ।

१. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बंगला ग्रन्थ), प्रथम संस्करण, पृ. १८५

जैसा कि हम बता आये हैं कि उनके पश्चिमी भारत में प्रवास का सुविस्तृत विवरण हमें प्राप्त नहीं होता । तथापि पिछले २५-३० वर्षों के दौरान इस से सम्बन्धित बहुत-सी सामग्री प्रकाश में आयी है, जिनमें से कुछ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्राप्त होती है और कुछ बातें हमें विभिन्न गुजराती तथा मराठी ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिल जाती हैं । यहाँ पर हम अब तक जितनी भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है और जो पहले से उपलब्ध है, उन सबके आधार पर स्वामीजी के इस भ्रमण का एक कालानुक्रमिक विवरण प्रस्तुत करेंगे ।

कुछ महाराष्ट्रीय लोगों से परिचय

अपना राजस्थान तथा गुजरात का प्रवास पूरा करके १८९१ ई. के अन्त में स्वामीजी ने महाराष्ट्र में प्रथम पदार्पण किया, परन्तु इसके पूर्व ही उनका कुछ महाराष्ट्रीय लोगों से परिचय हो चुका था । स्वामीजी ने अपनी तरुणाई के दो वर्ष रायपुर में बिताये थे, उस समय सम्भव है कि उनका कुछ महाराष्ट्रीय लोगों के साथ सम्पर्क हुआ हो, परन्तु उनके जीवन के उस काल का विस्तृत विवरण अज्ञात होने के कारण इस विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता । जहाँ तक हमें ज्ञात है उसका इस प्रान्त से प्रथम परिचय एक उदीयमान संगीतज्ञ के माध्यम से हुआ । संगीत ही इस सम्पर्क का कारण बना ।

स्वामीजी अपने काल के एक जाने-माने संगीतज्ञ थे । एक संगीतज्ञ के रूप में कलकत्ता के समाज में उनका विशेष नाम था । १८८७ ई. में ही उन्होंने 'संगीत-कल्पतरु' के नाम से विविध भजनों का एक संकलन प्रस्तुत किया था, जो उनकी सुदीर्घ तथा विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित होकर काफी लोकप्रिय हुआ । अपने परिव्राजक जीवन में भी जहाँ कहीं वे गये, अपने मधुर गायन के द्वारा उन्होंने लोगों को मंत्रमुग्ध कर डाला । परवर्ती काल में एक महान् संगीतज्ञ के रूप में प्रसिद्ध होनेवाले श्री रामकृष्ण वझे भी स्वामीजी के संगीत से ही आकृष्ट होकर उनके सम्पर्क में आये थे । उनके जीवन का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

पं. रामकृष्ण नरहर वझे (१८७१-१९४५) महाराष्ट्र में एक महान् संगीतज्ञ तथा गायनाचार्य के रूप में सुविख्यात हैं । उनके गायनविद्या के प्रमुख गुरु थे ग्वालियर घराने के उस्ताद निसार हुसैन खाँ । अपनी तरुणाई में संगीत सीखने की इच्छा से वे ग्वालियर, जालन्धर, जम्मू, काश्मीर, नेपाल आदि स्थानों पर गये । इसके अतिरिक्त भी उन्होने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था । बड़े संगीतज्ञों से प्राप्त चीजों तथा उनसे सम्बन्धित संस्मरणों का पण्डित जी के पास विशाल भण्डार था । और उन्हें अत्यन्त रोचक ढंग से सुनाने की कला भी उनके पास थी । प्रसिद्ध गायक तथा अभिनेता श्री केशवराव भोसले के साथ उनका विशेष लगाव था । उनके जीवन के

अन्तिम पर्व में उनके गायन के ग्रामोफोन रेकार्ड बने और आकाशवाणी से भी उनके कार्यक्रमों का प्रसारण होता था।

गोपालकृष्ण भोबे ने अपनी 'सात स्वरश्री' नामक मराठी पुस्तक में रामकृष्ण बुवा वझे का चरित्र लिखते हुए ग्वालियर में निसार हुसैन खॉं के पास उनके संगीत सीखने की जानकारी देने के पश्चात् लिखा है, ''यहाँ के बाद बुवा ने अपना देशाटन प्रारम्भ किया। सम्पूर्ण उत्तरी भारत में वे घूमें। अनेक गायक-वादक तथा पण्डितों के साथ उन्होंने मित्रता स्थापित की। स्वामी विवेकानन्द के साथ वे पन्द्रह दिन रहे। बुवा को उनके दिव्य मंत्रोपदेश का लाभ मिला। स्वामीजी का संगीत से गहरा लगाव था। संगीत के अधिकारी विद्वानों में उनकी गणना होती थी। संगीत के मर्म को सुलभ रीति से समझानेवाले अनेक दोहे स्वामीजी ने बुवा को बताये। बुवा ने भी उन्हें लिखकर रख लिए। अब तक भोगी हुई विपत्तियों के बीच इन जगद्वन्द्य योगी का सान्निध्य पाना मानो बुवा के जीवन का अमृतयोग था। इस सान्निध्य की स्मृतियॉं मानों उनके जन्म-जन्मान्तर के पुण्यों का फल थीं। संगीत-विद्या सीखने के दौरान बुवा का चित्त कष्टों से उत्तप्त हो चुका था; विद्यार्जन की वे स्मृतियाँ शरीर में रोमांच उत्पन्न करनेवाली है, परन्तु उनमें एक स्मृति ऐसी भी है जिसने उनके सम्पूर्ण जीवनकार्य में ताजगी ला दी। प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच उत्पन्न हुआ वह एक आसाधरण संयोग था। चिर चेतनामय! स्वामी विवेकानन्द का आशीर्वाद लेकर बुवा और भी आगे अग्रसर हुए।''

वझे बुवा ने स्वयं भी अपने 'संगीत-कला-प्रकाश' ग्रन्थ में लिखा है, ''ग्वालियर से (मैं) बरेली आया। वहाँ स्वामी विवेकानन्द से सम्पर्क हुआ। स्वामीजी के पास मैं पन्द्रह दिन रहा। उन पन्द्रह दिनों तक मुझे उनके ज्ञान का लाभ मिला।''

वझे बुवा ने स्वामीजी से संगीत विषयक कौन-सा तथा कैसा ज्ञान अर्जित किया था, इसकी सविस्तार जानकारी उपलब्ध नही है। केशवराव भोले ने अपने 'अस्ताई' नामक मराठी ग्रन्थ में लिखा है, ''स्वामीजी के सान्निध्य में उनके द्वारा रचित (कथित?) संगीत आदि सभी विषयो के ज्ञान से परिपूर्ण दोहे बुवा को याद हो गये। वार्तालाप के दौरान ये दोहे यदा-कदा बुवा के मुख से सुनने को मिल जाते थे।''

दो खण्डों मे पं. वझे द्वारा मराठी में लिखी गयी 'संगीत-कला-प्रकाश' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में यत्र-तत्र स्वामीजी का उल्लेख मिलता है। इस पुस्तक की प्रस्तावना में संगीत की नोटिशन पद्धति कीं चर्चा करते हुए बुवा ने लिखा है – ''स्वामी विवेकानन्द कहते थे –

संगीत कला है नारी। सबको हो गई प्यारी।
कोई दिन गली गली में फिरती
कोई दिन ठाढ़ी राजदरबारी।।
ऐसी नारी जिसको मिलत है, वाकी है बलिहारी।।

''स्वामीजी का कहना था कि गायन अब गली गली में भटकते हुए दुर्दशा को प्राप्त हो गई है और यह बात सत्य है।''

वर्तमान काल में संगीत विद्या की अवनति तथा उससे विशुद्ध व्यावसायिक रूप धारण कर लेने पर खेद व्यक्त करते हुए उच्चकोटि के संगीत के विषय में बुवा ने लिखा है –

''गायकी विद्या और वैद्यकी विद्या – दोनों ही समान दर्जे की हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते थे –

नादशास्त्र में कठिन है एक तल्लीन होना।
वैद्यशास्त्र में कठिन है वाको निदान होना।।
नादशास्त्र में मुख्य है मंद्र मध्य और तार।
वैद्यशास्त्र में मुख्य है वात पित्त कफ सार।।

''नादशास्त्र में तल्लीन होना बड़ा कठिन है। वैद्यशास्त्र में वात-पित्त-कफ इनका लक्षण समझना कठिन है। जैसे नादशास्त्र में तीन स्थान हैं, वैसे ही वैद्यशास्त्र में वात-पित्त-कफ ये तीन स्थान हैं। सार बात यह है कि जो व्यक्ति विद्या में पारंगत है उसी को ये चीजें समझ में आती हैं। जिस प्रकार पुस्तक पढ़कर वैद्यशास्त्र का ज्ञान नही होता, उसी प्रकार नोटेशन की पुस्तकें पढ़कर गायक नहीं बना जा सकता।''

वझे बुवा ने अपने ग्रन्थ में समकालीन गायकों के दुरभिमान से सम्बन्धित एक रोचक दृष्टान्त दिया है। इस थोथे दुरभिमान के फलस्वरूप संगीत विद्या की जो अवनति हो रही है, उसके प्रसंग में एक दोहा उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है –

''राग बिचारे क्या करें – गाने वाले कपूत।
माला बिचारी क्या करे – जपने वाले कपूत।।

''राग बड़े अच्छे हैं, परन्तु यदि गानेवाले ही अयोग्य हों, तो उनका क्या उपयोग? माले से भी क्या? यदि जपनेवाला ही उब गया हो, तो फिर माले का क्या उपयोग? अभिमान के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने एक कहानी सुनाई थी, जो इस प्रकार है –

''पूर्वकाल में नारद और तुम्बरू गायक थे। विष्णु के दरबार में दोनों का गायन हुआ। उस समय नारद को किसी ने वाहवाही नहीं दी, सभी तुम्बरू को वाहवाही देने लगे। नारद विष्णु पर बड़े नाराज हुए और बोले, 'मैं क्या तुम्बरू की अपेक्षा खराब गाता हूँ? विष्णु ने कहा, 'मुझे कुछ समझ में नही आता, तुम शंकर जी के पास जाओ।' नारद शंकर जी के पास गए। वे बोले, 'ब्रह्माजी के पास जाओ।' ब्रह्मा जी ने कहा, 'तुम पुनः विष्णु के पास जाओ।' तब विष्णु ने कहा, 'गुरु से सीखे बिना तुम गाते हो, इसलिए तुम्हारा गाना अच्छा नहीं है। तुम्हें गुरु की आवश्यकता है।' नारद बोले, 'मैंने शंकर जी से शिक्षा प्राप्त की है, शंकर जी की अपेक्षा श्रेष्ठ और कौन है? विष्णु ने कहा, 'शंकर जी की अपेक्षा भी शुद्ध

गानेवाले कोई हैं और वे हैं गानबन्धु। उन्हीं के पास जाकर तुम सीखो।' यह सुनकर नारद मृत्युलोक में आये। गानबन्धु का गायन चल रहा था। उस समय बाहर ही नारद ने देखा कि वहाँ सभी राग-रागिनियाँ विच्छिन्न हालत में पड़ी हैं। नारद ने पूछा, 'तुम लोग इस प्रकार रुदन क्यों कर रहे हो?' इस पर राग-रागिनियों ने कहा, 'नारद नाम का एक गायक है, जो राग को विकृत करके गाता है, इसी कारण हमारी यह हालत हुई है।' यह सुनकर नारद का चेहरा उतर गया और वे गानबन्धुओं के पास भीतर गये। गानबन्धु ने पूछा, 'आपको विष्णु ने भेजा है क्या?' यह सुनकर नारद को होश आया और वे समझ गये कि मेरे अभिमान करने के कारण ही प्रभु ने यह सारी लीला की है। इसके बाद फिर दरबार में नारद-तुम्बरू का गायन हुआ और नारद को भी वाहवाही मिली। इस पर भी एक कविता है –

विष्णु के दरबार में नारद तुम्बरू गावें;
तुम्बरू की तो वाहवा होवे, नारद मन मुसकावे।
कहे गोपाल अभिमान से, बड़ो भी छोटो होवे।।

"अभिमान के कारण बड़े आदमी का भी पतन हो जाता है। हमारी इस संगीतकला में या चाहे जिस भी कला में हो, अभिमान करने की कोई जरूरत नहीं। अभिमान को पकड़ा, तो फिर फलप्राप्ति नहीं होती है।"

वझे बुवा की 'संगीत-कला-प्रकाश' में स्वामीजी का केवल इतना ही उल्लेख मिलता है। अपने परिव्रज्या के दौरान स्वामीजी बरेली कब गये थे, इसका ठीक ठीक उल्लेख उनकी जीवनी में नहीं मिलता। १८९० ई. के उत्तरार्ध में जब वे हिमालय-भ्रमण को निकले थे, तो सम्भव है अल्मोड़ा-नैनीताल जाने के मार्ग में वे बरेली में भी कुछ दिन ठहरे हों।

इसके पश्चात् उत्तर भारत तथा राजस्थान का भ्रमण करते हुए १८९२ ई. के प्रारम्भ में स्वामीजी गुजरात के पोरबन्दर राज्य में आये। वे वहाँ के दीवान तथा प्रशासक श्री शंकर पाण्डुरंग पण्डित (१८४०-१८९४) से मिलकर उनकी विद्वता पर अत्यन्त मुग्ध हुए और उनके साथ काफी दिनों तक निवास किया। पण्डित जी का संक्षिप्त जीवनचरित्र इस प्रकार है –

महाराष्ट्र के सांवतवाड़ी संस्थान के अन्तर्गत बाबुली ग्राम में पण्डित जी का जन्म हुआ था। उनके पिता ग्रामप्रधान थे। वहाँ पर विद्यालय की सुविधा न होने के कारण उन्होंने घर पर ही पढ़ने-लिखने तथा हिसाब रखने का सामान्य ज्ञान प्राप्त किया। अट्ठारह वर्ष की आयु में वे अंग्रेजी सिखने की इच्छा से बेलगाँव गये। वहीं १८६१ ई. में उन्होंने विशेष योग्यता के साथ प्रवेशिका परीक्षा पास की, फिर आगे की पढ़ाई हेतु मुम्बई गये। वहाँ के एलफिंस्टन कालेज से १८६५ ई. में उन्होंने बी. ए. की उपाधि पायी। स्नातक हो जाने पर उन्हें पूना के डेकन कालेज में छात्रवृत्ति कमेटी के सचिव का पद मिला। १८६८ ई. में उन्होंने अंग्रेजी तथा लैटिन विषय में एम.ए. पास किया। १८६५ ई. से ही वे संस्कृत भाषा का अध्ययन कर रहे थे और इस विषय में उन्हें इतनी विशिष्टता प्राप्त हो गयी कि १८७१-७२ में वे डेकन कालेज में संस्कृत भाषा के प्राध्यापक नियुक्त हुए। तत्पश्चात् उन्होंने अनेक प्रकार के सरकारी पदों पर कार्य किया। १८७९ से १८८५ तक वे बम्बई सरकार के 'प्राच्य अनुवादक' के पद पर रहे। फिर उन्हें पोरबन्दर राज्य का प्रशासक चुना गया। इसी पद पर उनका देहावसान हुआ। लगभग ३० वर्ष शिक्षा के क्षेत्र में तथा उच्च सरकारी पदों पर अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करते हुए वे सतत सरस्वती की उपासना में भी लगे रहे।

उन्हें अनेक भाषाओं का ज्ञान था। अपनी मातृभाषा मराठी के अतिरिक्त संस्कृत, अंग्रेजी, लैटिन, फ्रेंच, जर्मन, गुजराती तथा कन्नड़ आदि भाषाओं में भी उनकी अच्छी गति थी। १८७४ ई. में हुई ओरियेंटल इंटरनेशनल कांग्रेस में भाग लेने के लिए भारत सरकार ने अपने प्रतिनिधि के रूप में उन्हें लंदन भेजा था। उपरोक्त सभा में उन्होंने 'कालीदास का काल' शीर्षक अपना निबन्ध पढ़ा, जो काफी प्रशंसित हुआ था। उनके द्वारा लिखित एवं प्रकाशित ग्रन्थों में 'कुमारपाल-चरितम्' नामक प्राकृत काव्य मुख्य है। इसके अलावा विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उन्होंने तुकाराम की 'अभंग-गाथा' का एक प्रमाणिक संस्करण प्रकाशित किया था। उच्च श्रेणी के विद्यर्थियों के उपयोग हेतु उन्होंने 'रघुवंश' तथा मालविकाग्निमित्र' पर सुबोध टीकाएँ भी लिखीं। पर साहित्यिक क्षेत्र में उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य था – 'वेदार्थयत्न' नामक मासिक। १८७६ ई. में प्रारम्भ होकर यह ६-७ वर्ष तक चला था। इसमें ऋग्वेद के अंग्रेजी तथा मराठी अनुवाद के साथ ही स्वतंत्र टिप्पणियाँ भी रहती थीं। यूरोप के विभिन्न देशों में यह पत्रिका काफी लोकप्रिय थी और भारत की अपेक्षा जर्मनी में इसके कहीं अधिक ग्राहक थे।

स्वामीजी की कई पुरानी जीवनियों में पोरबन्दर में उनके ९ से ११ महीने तक बिताने का उल्लेख मिलता है। परन्तु जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं कि उन दिनों स्वामीजी के पश्चिमी भारत में भ्रमण के अनेक विवरण अज्ञात थे। परन्तु अब क्रमशः जो तथ्य प्रकाश में आए हैं, उनसे पता चलता है कि उन्होंने कुल साढ़े चार महीने ही गुजरात में बिताये थे। १८९१ ई. के दिसम्बर के मध्य में उन्होंने अजमेर से प्रस्थान किया और अगले वर्ष अप्रैल के अन्त में उन्होंने महाबलेश्वर की यात्रा की। श्रीशंकर पाण्डुरंग की पुत्री पण्डिता क्षमाराव स्वयं भी एक महान् विदुषी थीं। उनके द्वारा संस्कृत में लिखे ९ महाकाव्य, ५ नाटक, ७ नाटिकाएँ तथा ३५ कथाएँ उनकी विद्वत्ता की निदर्शक हैं। अपने पिता की जीवनी के रूप में लिखित 'शंकर-जीवन-आख्यान' नामक काव्य में उन्होंने बताया

है कि स्वामीजी ने उनके 'भोजेश्वर' भवन में मानो परिवार के एक सदस्य रूप में चार महीनों तक निवास किया था। चूँकि स्वामीजी ने गुजरात प्रान्त के और भी अनेक स्थानों का दौरा किया था, अत: हमें लगता है कि उन्होंने अधिक-से-अधिक तीन महीने पोरबन्दर में बिताये होंगे। पण्डिता क्षमाराव द्वारा संस्कृत मे लिखित स्वामीजी के पोरबन्दर-आगमन के विवरण से सम्बन्धित श्लोकों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

"प्रजाहितैषी शंकर पण्डित ने प्रत्येक क्षेत्र में अनेक लोकहित के कार्य किये। जब वे विविध सत्कार्यों में रत रहते, तो उनके भोजेश्वर नामक निवास मे अनेक विद्वान् उनका दर्शन करने आया करते। प्रत्येक संस्कृतज्ञ विद्वान् उनके घर से भलीभाँति स्वागत-सत्कार पाकर प्रफुल्ल चित्त के साथ उनकी गुणग्राहकता की प्रशंसा करता हुआ ही वापस लौटता।

"उनके घर आनेवालों में एक महान् अतिथि भी थे और वे थे अपने सान्निध्य मात्र से पावनकारी सुविख्यात महान् योगी स्वामी विवेकानन्द। द्वारका नगरी से नौका में लौटते समय इन संन्यासी ने भोजेश्वर भवन के शिखर को देखा। उन्होंने पूछा – यह क्या है? नौका में बैठे सहयात्रियों ने बताया – यह यहाँ के सुप्रसिद्ध शंकर पण्डित का निवास है। उन लोगों से शंकर पण्डित की विद्वत्ता की प्रशंसा सुनकर योगीन्द्र स्वामीजी को उनसे मिलने की इच्छा हुई। रत्न की परीक्षा तो जौहरी ही कर सकता है! स्वयं की विद्या तथा तप से समृद्ध तेजस्वी स्वामी विवेकानन्द ने नौका रुकवायी और एक विद्वान् के साथ सत्संग करने की कामना के साथ नीचे उतर आये। अतिथि-वत्सल शंकर पण्डित ने सहसा भोजेश्वर में आये विशिष्ट अतिथि का भक्तिपूर्वक स्वागत किया।

"स्नान-पूजा आदि के बाद स्वामीजी ने विश्राम किया। इसके बाद शंकर पण्डित उन्हे भोजनकक्ष में ले गये। वह कक्ष सुगन्धित धूपबत्तियो से गमक रहा था। जब स्वामीजी भोजन-कक्ष मे आये, तब शंकर पण्डित के माधव तथा वामन नामक दोनो पुत्रो ने हाथ जोड़कर उनका अभिवादन किया; पर तारा, क्षमा और भद्रा नामक उनकी तीनो कन्याएँ स्वामीजी के दर्शन से स्तब्ध होकर अपने मुखमण्डल झुकाए खड़ी रहीं। वे मौन-पूर्वक ही नीचे बैठ गयी। मुनिवर को निरन्तर बातें करते दोनों बालको की अपेक्षा इन बालिकाओं से कही आनन्द हुआ। भोजन के बाद ब्रह्मतेज से दीप्त स्वामीजी को शंकर पण्डित ने बहुत-सी मनमोहक बातो से प्रसन्न किया।

"अगले दिन शंकर पण्डित स्वामीजी को समुद्र के किनारे घुमाने ले गये और उन्हं अनेक दर्शनीय स्थानों का परिदर्शन कराया। उनके द्वारा स्थापित विविध संस्थाओ को देखकर स्वामीजी उनके बुद्धि-वैभव पर विस्मित हो उठे। इसके बाद वे समुद्र-तट पर आये। मन्द मन्द वायु के बहने से वातावरण मोहक हो रहा था। वहाँ उन्होने दो कुमारों को पानी मे तैरते हुए देखा। कुमारों को तैरना सिखाने के लिए उनके साथ एक शिक्षक भी थे। थोड़ी दूर पर एक कृषकबाला कुशलतापूर्वक बालू का एक छोटा-सा मन्दिर बना रही थी और उसे देखकर तीनों बालिकाओ को बड़ा आनन्द हो रहा था। ये बालिकाएँ आनन्दपूर्वक बालू से बने इस खिलौने-मन्दिर के चारों ओर तालियाँ बजाते हुए मधुर गीत गाते हुए नाच रही थी। उनके इस अस्पष्ट परन्तु मधुर उत्तम गीत को सुनकर मुनिवर भी उस क्रीड़ागीत के नृत्य में सम्मिलित होकर नाचने लगे। एक बालक की भाँति स्वयं ही खेल में शामिल हुए इन योगी को देखकर बालिकाएँ बड़ी प्रसन्न हुई और उन्होंने तत्काल ही अपने खेल मे उन्हें भी भागीदार बना लिया। इसके बाद स्वामीजी हँसते हुए इन बालिकाओं को कन्धो पर उठाकर तैरने के लिए पानी में उतर गये। स्वामीजी तो सभी विद्याओं में पारंगत थे। इसके बाद से उन्होंने शंकर पण्डित के दोनों पुत्रों को तैराकी के सारे गुर सिखा दिये। एक बार शाम को शंकर पण्डित तथा स्वामीजी ने घोड़ों पर सवार होकर काफी लम्बा मार्ग तय करते हुए अनेक गाँवों का परिदर्शन किया। वे पाकशास्त्र मे भी निपुण थे। उन्होने (माँ) उषादेवी को विभिन्न प्रकार के व्यंजन बनाना तथा मसालों का उपयोग सिखाया। इस प्रकार स्वामीजी ने इस नगर में चार महीने बिताकर इसे पवित्र किया। लोगों ने भी उनका भावभीना सत्कार किया। इसके बाद मुनीन्द्र अपने मार्ग पर प्रस्थान कर गये।"

स्वामीजी की पुरानी जीवनी के मतानुसार वे जूनागढ़ से पोरबन्दर के दीवान के नाम एक परिचय पत्र लेकर वहाँ पहुँचे थे। पोरबन्दर का भारत के प्राचीन ग्रन्थों में सुदामा पुरी के रूप में उल्लेख हुआ है। वहाँ पर सर्वप्रथम स्वामीजी ने सुदामा जी के प्राचीन मन्दिर में जाकर दर्शन किया और तदुपरान्त दीवान शंकर पाण्डुरंग से मिलने गये। 'गुणी गुणं वेत्ति' – गुणवान ही गुण को समझ सकता है। पहली भेंट में ही पण्डित जी इन अज्ञात संन्यासी पर मुग्ध हो गये। और खुले दिल से उनका स्वागत किया। श्री शंकर पाण्डुरंग के व्यक्तिगत पुस्तकालय में संस्कृत साहित्य तथा दर्शनशास्त्र विषयक ग्रन्थो का विशाल संग्रह देखकर स्वामीजी भी आकृष्ट हुए। वार्तालाप के दौरान स्वामीजी की वैदिक वाङ्मय मे अभिरुचि तथा अध्ययन-स्पृहा शंकरराव के सम्मुख छिपी न रह सकी और उन्होने स्वामीजी से अनुरोध किया कि वे जब तक चाहे उनका आतिथ्य स्वीकार करके उनके ग्रन्थालय का उपयोग कर सकते हैं। स्वामीजी को भी यह प्रस्ताव रुचिकर लगा और वे वही रहकर पूर्ण मनोयोग के साथ गहन स्वाध्याय मे डूब गये। पण्डित जी उन दिनों अथर्ववेद-भाष्य के अनुवाद मे लगे हुए थे और कभी कभी अर्थ की निष्पत्ति के लिए उनके साथ चर्चा भी किया करते थे। बाद मे कभी कभी वार्तालाप के दौरान स्वामीजी उनका उल्लेख करते हुए कहते थे, "उनके जैसा वेदो का जानकार पण्डित

मैंने अन्यत्र कहीं नहीं देखा ।" उनके साथ स्वामीजी की बातें प्राय: संस्कृत भाषा में ही हुआ करती थी और इस प्रकार उन्हें देवभाषा में बोलने का अच्छा-खासा अभ्यास हो गया ।

एक दिन शंकरराव बोले, "देखिये स्वामीजी, पहले शास्त्र आदि पढ़कर मन में आता था कि इनके भीतर कुछ भी सत्य नहीं है । ये सब शास्त्रकारों के मस्तिष्क की कोरी कल्पनाएँ हैं – जिन्हें जैसी इच्छा हुई, लिख गये । पर आपसे मिलकर और आपका संग करके मेरी वह धारणा बदल गयी है । अब तो ऐसा विश्वास हो गया है कि हमारे शास्त्र आदि सब ठीक हैं ।"

तदनन्तर वे बोले, "मुझे तो ऐसा लगता है कि इस देश में आप विशेष कुछ नहीं कर सकेंगे । आपके उदार भावों को हमारे देशवासी जल्दी समझ नहीं सकेंगे । यहाँ व्यर्थ ही शक्ति का क्षय न करके आप पाश्चात्य देशों में जाइये । ..मैंने पाश्चात्य देशो में देखा है कि उन देशों के चिन्तनशील लोग हमारे हिन्दू दर्शन तथा शास्त्र आदि के सम्बन्ध में जानने को बड़े उत्सुक हैं । पर अब तक उन लोगों को ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला, जो इन शास्त्रों की ठीक ठीक व्याख्या करके उन्हें समझा सके । वहाँ के लोग विद्वत्ता एवं प्रतिभा का सम्मान करना जानते हैं । वहाँ जाकर आप अवश्य ही पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता पर सनातन धर्म का अपूर्व ज्ञानालोक फैलाकर एक नवीन युग का सूत्रपात करने में समर्थ होंगे ।"

स्वामीजी बोले, "हाँ, एक दिन मैं प्रभात में समुद्रतट पर खड़ा सुदूर दिगन्त में आलोकोज्जवल तरंगमाला का नृत्य देख रहा था । तभी सहसा मेरे मन में आया कि इसी विक्षुब्ध समुद्र को लाँघकर मुझे किसी दूर देश में जाना होगा । ... मैं ठहरा संन्यासी! मेरे लिए यह देश क्या! और वह देश क्या! जरूरत पड़ी तो जाऊँगा । ... परन्तु न जाने यह कैसे सम्भव होगा ।"

पण्डितजी ने कहा, "उन देशों के अभिजात वर्ग के साथ मेलजोल करने के लिए आपको फ्रांसीसी भाषा सीख लेनी चाहिए । मैं आपको सिखला दूँगा ।"

स्वामीजी उनके पास रहकर फ्रांसीसी भाषा सीखने लगे । इन्हीं दिनों उन्होंने आलमबाजार मठ के अपने गुरुभाइयों को एक चार पन्नों का पत्र लिखा था । पत्र किस भाषा में है और उसका मजमून क्या है, यह वे लोग समझ नहीं सके । किसी ने कहा, 'यह तो नरेन्द्र की चिट्ठी मालूम होती है – फ्रांसीसी भाषा में लिखी हुई है । इसके बाद वे लोग एक विद्वान् प्राध्यापक के पास जाकर उसका अर्थ समझ आये ।

इन्हीं दिनों स्वामीजी के एक अन्य गुरुभाई स्वामी त्रिगुणातीत भी हिंगलाज जाते हुए पोरबन्दर पहुँचे । संयोगवश स्वामीजी से भेंट होने पर उन्होंने देखा कि फ्रांसीसी भाषा की प्राथमिक पुस्तकें उनके पास पड़ी हैं । एक दिन बातचीत के दौरान स्वामीजी ने उनसे कहा, "भाई सारदा, श्रीरामकृष्णदेव मेरे बारे में जो बातें कहा करते थे और जिन्हें मैं चपलतावश हँसकर उड़ा देता था, अब वे सब क्रमश: सत्य प्रतीत होने लगी हैं । अब लगता है कि मेरे भीतर जो शक्ति है, उसके द्वारा मैं जगत् को उलट-पलट दे सकता हूँ ।" इस उक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दिनों से स्वामीजी को अपने भावी कार्य के स्वरूप का स्पष्ट बोध होने लगा था । इसके पश्चात् स्वामीजी ने द्वारका की ओर प्रस्थान किया और इधर उनके एक अन्य गुरुभाई अभेदानन्द पोरबन्दर आ पहुँचे । अभेदानन्द जी की प्रखर मेधा तथा तर्क-पद्धति पर मुग्ध होकर पण्डित जी ने उनसे कुछ काल अपना आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया । परन्तु अभेदानन्द अपने प्रिय गुरुभ्राता से मिलने को इतने व्यग्र थे कि एक-दो दिन पण्डित जी के साथ रहकर, उनके साथ शास्त्र चर्चा करने के पश्चात् ही उन्होंने भी वहाँ से विदा ली ।

पण्डित शंकर पाण्डुरंग तत्कालीन महाराष्ट्र की एक महान् विभूति थे । उनके साथ निवास करते हुए स्वामीजी ने अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर अध्ययन, चर्चा तथा चिन्तन किया, जो उनके आनेवाले दिनों में काफी उपयोगी सिद्ध हुआ ।

❖ (क्रमशः) ❖

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि पिछले किसी अंक से बनना हो, तो उसका उल्लेख करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से अवश्य लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें - 'नया सदस्य' ।

(३) अपनी पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व की उसका नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उससे पहले प्राप्त शिकायतों पर ध्यान नहीं दिया जायेगा। अंक उपलब्ध होने पर ही पुनर्प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक रू. ३/- का अतिरिक्त खर्च वहन करके इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमारे कार्यालय को न भेजें।

(६) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

आचार्य रामानुज (१३)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द ने बँगला मासिक 'उद्‌बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' में हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

९. आलवन्दार

कुछ दिन बाद वृद्ध आलवन्दार बीमार होकर शय्याशायी हुए। शिष्यगण उनके पास रहकर सेवा-सुश्रूषा में लग गये। ज्ञान-भक्ति के विग्रह, महासात्त्विक यामुनमुनि पीड़ा भोगते हुए कभी क्षण मात्र के लिये भी भगवद्दास्य की महिमा-कीर्तन से विरत नही होते थे। शिष्यों को बारम्बार वे कहते, "जैसे पुष्प का सार मधु है, गाय का सार घृत है, वैसे ही त्रिलोक के सार नारायण हैं। उनकी शरण लेने से चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है।" महापूर्ण, तिरुक्कोटियुर-पूर्ण आदि शिष्यों ने अपने अपने सन्देहों के निवारणार्थ आलवन्दार के समवयस्क न्यासिचूड़ामणि तिरुवरांग पेरुमल आरियार से अनुरोध किया कि वे उनकी तरफ से यामुनमुनि के समक्ष दो-एक प्रश्न रखें। इस पर तिरुवरांग ने उनके प्रतिनिधि के रूप में शय्याशायी महापुरुष से पूछा, "महाराज, श्रीमन्नारायण मन-वाणी के अतीत हैं। उनकी किस प्रकार सेवा की जा सकती है?"

यामुनाचार्य ने उत्तर दिया, "भक्तों की सेवा करने से भगवान की सेवा हो जाती है। भक्तों का जाति-कुल नहीं होता; वे ईश्वर के दृश्यमान विग्रह हैं। तुम सभी चण्डाल-कुलोद्भव तिरुप्पान आलवार की अर्चामूर्ति की सेवा करना, इसी से नारायण की सेवा होगी।" उन्होने और भी कहा, "श्रेष्ठ भक्तगण निरन्तर निष्ठा-भक्ति के साथ नारायण तथा उनके भक्तों की मूर्ति की सेवा करते रहते हैं। देखो, तिरुप्पान आलवार ने अनन्य मन से श्री रंगनाथ की सेवा में जीवन बिताया है; श्री कांचीपूर्ण की भी वरदराज की सेवा में कैसी निष्ठा है! ये सभी महापुरुष हैं; इनके समान आचरण करने से कल्याण होगा। **महाजनो येन गतः स पन्थाः**[1]।"

इसके पश्चात् वे तिरुवरांग की ओर देखते हुए बोले, "रंगनाथ के भक्त तिरुप्पान आलवार मेरे एकमात्र आश्रय हैं, वे मेरे भवसागर के कर्णधार होगे।"

यह सुनकर तिरुवरांग ने व्यथित हृदय के साथ पूछा, "आपने क्या देहत्याग करने का निश्चय कर लिया है?"

यामुन बोले, "भले ही ईश्वर की इच्छा से मुझे शरीर छोड़ना पड़े, इस पर तुम्हारे जैसे महापुरुष के लिये व्यथित होना उचित नही। ईश्वर की इच्छा से जो भी होता है, वही परम मंगलकारी है, इसमे निश्चित विश्वास होना चाहिए। अहंकार को उनके श्रीपादपद्मों में बलिस्वरूप अर्पित कर सदा के लिये निश्चिन्त हो जाओ। अहंकार ही समस्त दुःखों और निरहंकार ही सकल सुखों का मूल है। निरहंकारी व्यक्ति को कर्म कभी बन्धन में नहीं डाल सकते। 'मैं उनका दास हूँ' – यही भाव मन में दृढ़मूल हो जाने पर अहंकार के हाथ से छुटकारा मिल जाता है। ऐसा होने से ही मनुष्य समझ सकता है कि वह जन्म-मृत्यु के अधीन नही, बल्कि श्रीमन्नारायण का नित्यदास है; तब वह 'हे प्रभो, मेरी रक्षा करो' – कहकर श्री भगवान के पादपद्मों में प्रार्थना नही करता। तभी वह निष्काम भाव से उनकी सेवा कर सकता है। तभी उसकी भक्ति अहैतुकी होती है। तभी वह ईश्वर का यथार्थ दास होता है।"

तिरप्पान आलवार की सेवा में तिरुवरांग की अनन्य निष्ठा देखकर यामुनमुनि उनसे बोले, "तुम जो कर रहे हो, उसके द्वारा तुम शीघ्र ही अहैतुकी भक्ति पाकर कृतार्थ हो जाओगे।"

जिस समय ये सब बातें हो रही थीं, उस समय महापूर्ण तथा तिरुक्कोटियुर पूर्ण ने मन-ही-मन संकल्प किया कि आलवन्दार के देहत्याग करते ही वे आत्महत्या कर लेंगे। उसी समय एक अन्य शिष्य ने कहा, "आपके चले जाने पर हम किसके आश्रय में निवास करेंगे? कौन हमे ऐसी मधुर वाणी में आश्वस्त करेगा?" यह कहकर वे आँसू बहाने लगे।

उन्हे सान्त्वना देने हेतु यामुनाचार्य बोले, "वत्स, तुममें से कोई भी उद्विग्न न हो। श्री रंगनाथ ने तुम्हे आश्रय दिया है, दे रहे हैं और देंगे। सर्वदा उनका दर्शन करना; बीच बीच में तिरुपति के बालाजी तथा कांचीपुर के वरदराज का दर्शन करना। श्रीरंगम् नारायण का धाम है; तिरुपति नारायण के पादपद्म-प्रापक चरम श्लोक[2] और कांचीपुर तारक मंत्र हैं।"

तिरुवरांग ने जब पूछा कि उनके अवसान के पश्चात् उनके शरीर का दाह किया जायगा या समाधिस्थ, तो उन्होने कोई उत्तर नही दिया, क्योकि उस समय उनका मन प्रभु के पादपद्मों में विलीन हो गया था। कई शिष्यो ने उनके देहत्याग के उपरान्त आत्महत्या करने का निश्चय किया।

अगले दिन जब श्री रंगनाथ अपने असंख्य भक्तों के साथ मन्दिर के बाहर निकलकर चौराहे पर आए, तो श्रीरंगम् के

१. महाभारत, वनपर्व

२. **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। गीता, १८/६६
– समस्त कर्तव्यो को छोड़कर मेरी शरण लो। शोक मत करो, मैं तुम्हे समस्त पापो से मुक्त कर दूँगा।

समस्त नरनारी भगवान का दर्शन करने को वहाँ एकत्र हुए। पूरा चौराहा लोगों से भर गया था। यामुनाचार्य के शिष्यगण भी गुरु के आदेश पर मठ से रंगनाथ का दर्शन करने आए थे। उसी समय भगवान के एक सेवक ने देवताविष्ट होकर महापूर्ण तथा तिरुक्कोटियुर पूर्ण को सम्बोधित करते हुए कहा, "तुम लोग आत्महत्या का संकल्प छोड़ दो। इसमें मेरी सहमति नही है।" यह कहकर उन्होंने दोनों को तिरुवरांग के हाथो मे समर्पित किया। वे उन्हें यामुनाचार्य के पास ले गये और सारी बातें कही। सुनकर ज्ञानगम्भीर महापुरुष ने कहा, "आत्महत्या महापाप है। तुम लोगों पर ईश्वर का अतिशय स्नेह है, अत: उन्होंने स्वयं ही तुम्हें मना किया। उस संकल्प को बिल्कुल त्याग दो।" कुछ काल मौन रहने के बाद उन्होंने फिर कहा, "तुम लोगों के प्रति मेरा अन्तिम उपदेश यह है कि सर्वदा श्री भगवान के पादपद्मों में कुसुमाञ्जलि अर्पित करना, गुरु द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर विचरण करना और भक्तसेवा द्वारा अहंकार का नाशकर परम-पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त करने का प्रयास करते रहना।" यह कहते हुए उन्होंने अपनी शिष्य-मण्डली को तिरुवरांग के हाथों में सौंप दिया।

आलवन्दार उस बार स्वस्थ हो उठे और स्वयं भी एक दिन श्री रंगनाथ के उत्सव में सम्मिलित हुए। वे अपनी सम्पूर्ण शिष्य-मण्डली के साथ प्रसाद ग्रहण करके मठ में लौट आये और पूर्ववत् ही शास्त्र-व्याख्या करते हुए सबकी उन्नति करने लगे। एक दिन वे शास्त्र के रहस्य समझाने में लगे हुए थे कि उसी समय कांचीपुर से दो ब्राह्मण आ पहुँचे। ये यामुनमुनि की अस्वस्थता का संवाद पाकर उनका दर्शन करने आये थे। उनसे मिलकर आलवन्दार अतिशय सन्तुष्ट हुए और रामानुज का समाचार पूछने लगे। ब्राह्मणों ने कहा, "रामानुज अब यादवप्रकाश का शिष्यत्व त्यागकर स्वयं ही शास्त्रचर्चा कर रहे है और श्री कांचीपूर्ण के निर्देशानुसार प्रतिदिन भगवान की पूजा के लिये शालकूप से एक घड़ा जल भरकर लाया करते हैं। यह सुनकर यामुनाचार्य के आनन्द की सीमा न रही। उन्होने तत्काल आठ प्रणाम श्लोकों की रचना कर भगवान की अर्चना की और महापूर्ण को सम्बोधित करते हुए बोले, "वत्स, तुम व्यर्थ समय न गँवाकर रामानुज को शीघ्र यहाँ ले आओ। उसका ईश्वरत्व अभी छिपा हुआ है। उसे अपनी मण्डली में सम्मिलित करना नितान्त उत्तम होगा।" यह सुनकर महापूर्ण ने श्रीगुरु के पादपद्मों में प्रणाम किया और तुरन्त कांचीपुर की ओर प्रस्थान किया।

कुछ दिनों बाद आलवन्दार पुन: अस्वस्थ हुए। शिष्यगण फिर उनके लिये अतीव उद्विग्न हो उठे। इस बार उनका रोग कुछ अधिक ही क्लेशकारक था। उस पीड़ित दशा में ही एक दिन वे स्नान करके मन्दिर में गए, रंगनाथजी का दर्शन किया और प्रसाद ग्रहण करके मठ में लौट आए। शिष्यों का मध्याह्न भोजन समाप्त हो जाने पर उन्होंने उनमें से कुछ को गृही भक्तों को बुला लाने भेजा। उन सबके समवेत हो जाने पर उन्होंने अपने से यदि कोई अपराध हुआ हो, तो उसके लिये सबसे क्षमा माँगी। उन सबने कहा, "यदि ईश्वर द्वारा अपराध करना सम्भव हो, तो फिर आपके द्वारा भी अपराध सम्भव है।" उन्होंने उन लोगों के ऊपर तिरुवरांग तथा अन्य शिष्यों का भार अर्पण करते हुए कहा, "प्रतिदिन नियमित रूप से रंगनाथजी की सेवा, दर्शन और प्रसादी पुष्प ग्रहण करना। इससे मन-बुद्धि निर्मल होगा और शीघ्र भगवान की प्राप्ति होगी। सर्वदा गुरुभक्ति-परायण तथा अतिथि-सेवक होना।" सभी विदा हुए। आलवन्दार का यह अभिनव भाव देखकर सब लोग विस्मित रह गये थे।

गृही भक्तों के चले जाने पर आलवन्दार पद्मासन में बैठे। उन्होंने मन को ऊपर उठाकर हृदय में सन्निविष्ट किया। उस समय उनके शिष्यगण मधुर स्वर में भगवन्नाम-माहात्म्य का संकीर्तन कर रहे थे। मृदु वाद्यो के साथ वंशी की ध्वनि ने उस संकीर्तन को और भी मधुर कर दिया था। एक तरह की स्वर्गीय शान्ति एवं सुख से सबका मुखमण्डल उद्भासित हो रहा था। सभी भगवद्भक्ति में विभोर हो उठे। क्रमश: आलवन्दार ने मन को हृदय से उठाकर भ्रूमध्य में स्थापित किया। उनके नेत्रों के दोनों किनारों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगे। उनका पूरा शरीर रोमांचित एवं कण्टकित हो उठा। अन्तत: ब्रह्मरन्ध्र के मार्ग से देहनिर्मोक को त्यागकर वे परमपद में विलीन हो गये। संकीर्तन अचानक ही थम गया। तिरुक्कोटियुर तथा अन्य शिष्यगण उच्च स्वर में रुदन करने लगे। कोई कोई चेतना खोकर धरती पर गिर पड़ा।

थोड़ी देर बाद शोक का वेग कम हो जाने पर शिष्यगण आलवन्दार के पुत्र छोटे पूर्ण को साथ लेकर अन्तिम संस्कार सम्पन्न करने की व्यवस्था में लग गये। मृतदेह को शीतल पवित्र जल से स्नान कराया गया; तदुपरान्त नये वस्त्र पहनाकर सुसज्जित अरथी पर लिटाया गया और उन्हें लेकर सभी धीमे कदमों के साथ कावेरी तट पर स्थित श्मशान क्षेत्र की ओर चले। श्रीरंगम् के निवासी समस्त नर-नारी शव के पीछे पीछे जा रहे थे। श्मशान क्षेत्र लोगों से भर गया।

❖ (क्रमश:) ❖

चिन्तामुक्ति का रसायन : एक चिन्तन

स्वामी सत्यरूपानन्द

संसार व्यवहार में हम सभी का जीवन किसी न किसी प्रकार की चिन्ता से यदा कदा ग्रस्त होता ही रहता है । चिता छोटी, बड़ी, कम समय तक रहने वाली या अधिक समय तक रहने वाली हो सकती है ।

चिन्ता चाहे जैसी हो उस से मन दुखी और अशान्त अवश्य हो जाता है । दैनन्दिन जीवन की साधारण छोटी मोटी चिन्ताएँ समय और परिस्थिति परिवर्तन के साथ कम हो जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं । किन्तु बहुत सी चिन्ताएँ ऐसी होती है जो समय या परिस्थिति परिवर्तन से कम नहीं होती बल्कि यदि उन्हे दूर करने का प्रयत्न नही किया गया तो वे बढ़कर मनुष्य का जीना दूभर कर देती हैं । चिन्ताग्रस्त व्यक्ति का जीवन ही मानो चिता में जलता रहता है ।

चिन्ता मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं है । जीवन के प्रति गलत दृष्टिकोण तथा चिन्ताग्रस्त लोगों के साथ रहने के कारण व्यक्ति को चिन्ता का छूत लग जाता है । उसे चिन्ता करने की आदत पड़ जाती है । यह एक कुटेव है । जो असावधानी से व्यक्ति के स्वभाव में आ जाती है ।

चिन्ता को दुश्चिन्ता बनती देर नही लगती । यदि समय रहते व्यक्ति सावधान नहीं हुआ, यदि उसने विचार और प्रयत्नपूर्वक व्यर्थ की चिन्ता को दूर नही किया, तो उसका जीवन अशान्त और दुखी हो जाता है । चिन्ताग्रस्त व्यक्ति का जीवन कभी सफल नहीं हो सकता । चिन्ता ऐसे अनमोल मनुष्य-जीवन को व्यर्थ कर देती है ।

आइये, हम जीवन की उस विधा पर विचार करें, जो हमें चिन्ताओं से मुक्त कर स्वस्थ चिन्तन द्वारा जीवन को सफल और सार्थक बनाने का उपाय बनाती है; जीवन को आनन्द और शान्ति से परिपूर्ण कर देती है ।

समस्या का उद्‌गम

आप में से जो उपनिषदो से परिचित हैं वे जानते ही है कि उपनिषदो मे एक प्रसिद्ध है कठोपनिषद् । इसमें यमराज और नचिकेता के आख्यान तथा प्रश्नोत्तर द्वारा मानव व्यक्तित्व तथा मानवीय चेतना के उद्भव व विकास का सुन्दर वर्णन है । इस उपनिषद् मे सूत्र मे आत्मानुभूति के उपाय भी बताये गये हैं ।

शास्त्रों को पढ़ने की विधि – यहाँ साधना की दृष्टि से शास्त्रो को पढ़ने की विधि के सम्बन्ध में थोड़ा विचार कर लेना अवान्तर न होगा ।

शास्त्रो की पढ़ने की दो विधियाँ या दृष्टिकोण हैं । एक है विद्वानो व पण्डितो की । वे लोग भाषाशास्त्र, व्याकरण, छन्द, अलंकार आदि के आधार पर शास्त्रो पर विचार करते हैं। शास्त्रों की भाषा के सौन्दर्य सौष्ठव आदि का निर्णय करते हैं।

उसी प्रकार इतिहास, पुरातत्त्व आदि की सहायता से शास्त्रों की रचना का कालनिर्णय करते हैं । सम्भव हो तो वे किस स्थान पर रचे गये आदि भौगोलिक स्थिति का भी निर्देशन करने का प्रयत्न करते हैं ।

तर्क वितर्क तथा दार्शनिक ऊहापोह आदि के द्वारा शास्त्रों में दार्शनिक विचारों, भावों, तत्त्वों आदि का निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं ।

शास्त्रों के इस प्रकार के अध्ययन से विद्वत्ता और पाण्डित्य की उपलब्धि तो हो सकती है । होती है । किन्तु साधना की दृष्टि से साधक साधिका को आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर हो कर जीवन के परम लक्ष्य 'मोक्ष' की प्राप्ति में कोई विशेष सहायता नही मिलती ।

शास्त्रों के अध्ययन की दूसरी विधि है – भक्तों और साधको की । साधक अपनी आध्यात्मिक समस्याओं के समाधान के लिए शास्त्रों का अध्ययन करता है । साधना के मार्ग में आने वाली कठिनाइयो और विघ्न बाधाओं को कैसे दूर किया जाय तथा निर्विघ्न लक्ष्य की ओर कैसे अग्रसर हुआ जाय, इसलिए शास्त्रो का अध्ययन करता है ।

हम इस दूसरी दृष्टि से ही इस विषय पर विचार करेंगे ।

उपनिषद्, गीता, रामायण तथा विभिन्न पुराणों आदि में जो रूपक कथाएं हैं, उनका शब्दश: अर्थ नही लेना चाहिए । इन कथाओ के माध्यम से जिन तत्त्वों तथा सत्यो की ओर संकेत किया गया है उन्हे ग्रहण करना चाहिए ।

कठोपनिषद् एक ऐसा उपनिषद् है, जिसमें मानव जीवन की मौलिक समस्याओं पर विचार कर उसका स्थायी समाधान प्रस्तुत किया गया है । इस उपनिषद् में यमराज और नचिकेता का संवाद है । यमराज नचिकेता से कहते हैं –

> **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्**
> **तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीर: ।**
> **श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते**
> **प्रेय मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ।। १/२/२**

– श्रेय और प्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, बुद्धिमान मनुष्य उन दोनों पर भलीभाँति विचार कर उनको अलग अलग समझ लेता है । बुद्धिमान धीर पुरुष परम कल्याण के साधन को ही भोग के साधन की अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर ग्रहण कर लेता है । किन्तु मन्दबुद्धि वाला मनुष्य सांसारिक योगक्षेम की इच्छा से भोगो के साधनो को ही अपनाता है ।

शैशव अवस्था में श्रेय और प्रेय के सम्बन्ध में मनुष्य का

कोई विशेष दायित्व नहीं रहता । माता-पिता, गुरुजन आदि शिशु के अच्छे बुरे का विचार कर उसके अनुसार शिशु के कल्याण की व्यवस्था कर देते हैं । इसमे उत्तरदायित्व माता-पिता और गुरुजनों का ही होता है ।

मनुष्य के स्वयं का उत्तरदायित्व तो तभी प्रारम्भ होता है जब किशोर अवस्था की परिपक्वता के साथ साथ वह भले बुरे को समझने लगता है । उसे समझकर उसमें से अपने लिए स्वेच्छा से भले या बुरे का चुनाव करता है । तथा उसके अनुसार जीवन में आचरण करता है ।

यह चुनाव ही उसके सुख-दुख, ह्रास-विकास, उत्थान-पतन आदि का कारण होता है । यही चुनाव मनुष्य के सत्-चरित्र या दुश्चरित्र होने का कारण होता है । यही चुनाव उसे महान या क्षुद्र बनाता है । इतना ही नहीं यही चुनाव उसके बन्धन या मोक्ष का कारण भी होता है ।

यह चुनाव ही मनुष्य के देवत्व या पशुत्व को जीवन में प्रगट करने का कारण होता है ।

जीवन की सफलता या असफलता, सार्थकता या निरर्थकता इसी श्रेय और प्रेय के चुनाव पर निर्भर करती है ।

इस चुनाव से कोई बच नहीं सकता । प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के जीवन में कभी न कभी श्रेय और प्रेय में से किसी एक का वरण अवश्य करना पड़ता है ।

प्रेय क्या है?

किसी भी दो या अधिक वस्तुओं में किसी एक का चुनाव करने के लिए हमें उन सभी वस्तुओं या तत्त्वों के गुण दोष स परिचित होना आवश्यक है । श्रेय प्रेय में से श्रेय का चुनाव करने के लिए भी हमें दोनो के गुण दोषों को जानना चाहिए ।

आइये, पहिले प्रेय से ही परिचय प्राप्त करें । प्रेय क्या है? भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

विषयेन्द्रियसंयोगात् यत् तत् अग्रे अमृतोपमम् ।
परिणामे विषम इव तत् सुखं राजसं स्मृतम्।। ३८.१८

विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख होता है वह भोगकाल में अमृत के समान प्रतीत होता है, किन्तु परिणाम मे विष के समान होता है । वह सुख राजस सुख कहा जाता है ।

सुख और दुख हमें इन्द्रियों के द्वारा ही प्राप्त होता है । हमारी इन्द्रियाँ जब विषयों के सम्पर्क में आती हैं, तभी हमें सुख अथवा दुख का अनुभव होता है ।

इन्द्रियों और मन को रुचिकर लगने वाले विषयों से जैसे सुस्वादु भोजन, नरम बिस्तर आदि से हमारी इन्द्रियों का सम्पर्क होता है तो हमें सुख मिलता । इन्द्रियों और विषयों के संयोग से मिलने वाले सभी सुख व्यक्ति को प्रिय लगते हैं । इन्हीं विषय सुखों या सांसारिक सुखों को प्रेय कहा गया है ।

योगक्षेम के कारण प्रेय का वरण

यदि हम अपने भोगे हुए सुखों के अनुभव पर थोड़ा विचार करें, उसका विश्लेषण करें तो हम प्रेय के स्वभाव से उसकी संरचना से शीघ्र ही परिचित हो जायेंगे ।

उदाहरणार्थ हमने अपनी रुचि का सुस्वादु भोजन किया । हमें सुख मिला । इस सुख के दो भाग हैं । क्रिया व संस्कार । भोजन करना एक क्रिया है । भोजन का संस्पर्श जीभ से हुआ, स्वाद मिला, हमें अच्छा लगा, सुख मिला । इस अच्छा लगने या सुख मिलने की एक छाप हमारे मन पर या कहें चित्त पर पड़ी । इस छाप को संस्कृत में संस्कार कहते हैं । सुस्वादु भोजन के सुख का संस्कार हमारे चित्त पर पड़ गया ।

हमारे चेतन मन पर पड़ने वाले संस्कार शीघ्र ही हमारे मन की गहराई अवचेतन मन या चित्त में जाकर अंकित हो जाते हैं । यह अंकन चित्त में स्थायी हो जाता है । इस अनुभव की छाप हमारे चित्त पर सदैव के लिये बनी रहती है ।

चित्त के ये स्थायी संस्कार प्रतीक्षारत रहते हैं । अवसर की प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कब सुख को पुन: भोगने का अवसर मिले और उसे पुन: भोगा जाय ।

संस्कार प्रसुप्त स्मृति के रूप में रहते हैं । ज्योंही अवसर आया कि यह स्मृति जागकर इच्छा का रूप ले लेती है । अनुभूत सुख को पुन: भोगने की इच्छा व्यक्ति से उस इच्छा की पूर्ति के लिए कर्म करवाती है; इस प्रकार व्यक्ति उसका पुन: अनुभव करता है । यह अनुभव उस सुख सम्बन्धी पुराने संस्कार को पुष्ट करता है । यह पुष्ट संस्कार उस सुख भोग की इच्छा को प्रबल करता है । प्रबल इच्छा व्यक्ति को पुन: पुन: उस सुख को भोगने के लिए प्रेरित करती है, व्यक्ति घानी के बैल के समान उस तथाकथित सुखदायक कर्म की अवृति करता जाता है । इस प्रकार वह अपनी इच्छाओं का दास होकर अंत में महान अतृप्ति और शोक के सागर में डूब जाता है । दुख और विषाद ही उसकी नियति बन जाती है, उसी मन:स्थिति में मरने पर पुन: पुन: जन्म, भोग और मरण के चक्र में घूमता रहता है ।

प्रेय वासना है; यही उसकी संरचना और स्वभाव है ।

योगक्षेम – प्रेय तथा योगक्षेम की चिन्ता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । भगवान शंकराचार्य ने अपने गीताभाष्य में योगक्षेम शब्द की परिभाषा दी है । वे लिखते हैं – **योगः अप्रकाप्तस्य प्रापणम् क्षेमः तत् रक्षणम्** (२२/९) अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति को योग और प्राप्त वस्तु की रक्षा को क्षेम कहते हैं ।

जिसके जीवन में प्रेय प्रबल है, उसका मन सदैव ही योगक्षेम की चिन्ता से ग्रस्त रहता है । ऐसा क्यों होता है? हमने देखा प्रेय वासना है, भोगेच्छा है । भोग के लिए भोग्य वस्तुएँ चाहिए अत: भोगपरायण व्यक्ति सदैव भोग्य वस्तुओं

की प्राप्ति के प्रयत्न में लगा ही रहेगा । उसी प्रकार भोग्य वस्तुएँ सदैव उपलब्ध रहें इसलिए प्राप्त वस्तुओं की रक्षा के प्रयत्न में भी वह सदैव लगा रहेगा ।

प्रेय के चंगुल से छूटने के लिए योगक्षेम की संरचना को भी समझ लेना आवश्यक है । भोगेच्छा असीम होती है । भोग की वस्तुएँ भी बहुसंख्यक है । अत: सांसारिक सुख भोगने के इच्छुक व्यक्ति की अप्राप्य भोग्य वस्तुओं की प्राप्ति की इच्छा कभी पूर्ण नहीं हो सकती, अप्राप्य की प्राप्ति का प्रयत्न कभी समाप्त नहीं हो सकता । ठीक उसी प्रकार प्राप्त वस्तुएँ हमारे पास ही बनी रहें; सुरक्षित रहें यह इच्छा । परिणामस्वरूप उसके लिए प्रयत्न यह भी कभी समाप्त नहीं हो सकता ।

योगक्षेम की मनोवृत्ति के मूल में लोभ और परिग्रह की वृत्ति ही है । लोभ और परिग्रह की वृत्ति अग्नि जैसी है । अग्नि में हम जितना ईधन डालते हैं, वह उतनी ही बढ़ती जाती है । ईधन डालते रहकर क्या कभी अग्नि को बुझाया जा सकता है? ठीक वैसे ही योगक्षेम की इच्छा को कभी भी वांछित वस्तुओं की प्राप्ति और परिग्रह से तृप्त नहीं किया जा सकता ।

भोग या लोभ की वृत्ति का सबसे बड़ा दोष यह है कि लोभी व्यक्ति सदैव यही देखता है कि उसके पास क्या नहीं है । क्या है उस ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जाती । इसलिए लोभी व्यक्ति सदैव अभावग्रस्त, अतृप्त, चंचल और चिन्ता पीड़ित रहता है ।

क्षेम या परिग्रह की वृत्ति परिग्रही व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकृत कर देती है । परिग्रही प्राय: कृपण हो जाता है । उसका मन इतना संकुचित व क्षुद्र हो जाता है कि वह अपनी संग्रहित वस्तुओं का न तो स्वयं उपभोग कर पाता है और न दूसरों को ही उनका उपभोग करने देता है । संग्रहित वस्तुओं की सुरक्षा की चिन्ता सदैव उस व्यक्ति के सिर पर सवार रहती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योगक्षेम की वृत्ति मनुष्य को सदैव अशान्त, चिन्ताग्रस्त और अस्थिर बनाये रखती है ।

योगक्षेम की वृत्ति प्रेय की ही शाखा प्रशाखा है । आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी योगक्षेम जीवन में अतृप्ति उत्पन्न कर देते है और अतृप्ति अन्तत: अशान्ति और दुख का ही कारण होती है ।

चिन्ता मुक्ति का उपाय श्रेय का चिन्तन

हमने यह देखा कि प्रेय के वरण से जीवन में चिन्ता अशान्ति और दुख ही आते हैं । आइये, अब उस उपाय पर थोड़ी चर्चा करें जिससे जीवन की सभी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं, दुख और अशान्ति दूर हो जाती है तथा मनुष्य परमानन्द प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है ।

यमराज ने नचिकेता से कहा था कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने आते हैं, किन्तु जो बुद्धिमान और विवेकशील व्यक्ति है वह '**सम्परीत्य विविनक्ति**' भलीभाँति विचार कर उनके गुण दोषों को अलग अलग समझ लेता है ।

समझकर क्या करता है – **श्रेय: हि प्रेयस: अभि वृणीते** । इन्द्रिय भोग की अपेक्षा परमार्थ सिद्धि के साधनों को श्रेष्ठ समझकर उनका वरण कर लेता है ।

चिन्तन – विवेकपूर्वक भलीभाँति विचार करना ही चिन्तन है । सम्यक् चिन्तन के द्वारा मनुष्य के हृदय में सत्य उद्भासित हो उठता है ।

चिन्तन के मूल तत्त्व हैं – ज़िज्ञासा, विचार और निर्णय ।

जीवन में चिन्तन तभी आता है जबकि व्यक्ति के मन में प्रश्न उठता है कि यह संसार क्या है? जीवन क्या है? मैं कौन हूँ? सत्य क्या है? आदि ।

चिन्तन से विवेक और ज्ञान जागृत होता है – विश्व का सम्पूर्ण ज्ञान मनुष्य की आत्मा में विद्यमान है । आत्मा ज्ञान स्वरूप है । किन्तु साधारणत: यह ज्ञान सुप्त अवस्था में रहता है या यों कहें कि बहिर्मुखी वृत्ति के कारण भीतर देखकर चिन्तन न करने के कारण यह ज्ञान ढँका रहता है ।

पर जब कोई जिज्ञासु यथार्थ रूप से गहन चिंतन करता है तो उसके अन्त:करण में सोया हुआ ज्ञान जाग उठता है । उसका विवेक सक्रिय होता है । यह जाग्रत ज्ञान और सक्रिय विवेक व्यक्ति को चिंताओं से मुक्त कर चैतन्य कर देता है ।

युवराज सिद्धार्थ! तरुण स्वस्थ, रूपवान, बलवान, गुणवान सिद्धार्थ! वैभवशाली कपिलवस्तु राज्य का उत्तराधिकारी जिसे संसार के सभी सुख उपलब्ध थे । परम सुन्दरी अनुकूल पत्नी, दास दासियाँ, राज्य वैभव सभी कुछ तो था सिद्धार्थ के पास ।

किन्तु एक वृद्ध, एक रोगी, और एक मृत व्यक्ति को देखकर सिद्धार्थ का मन चिन्ता में डूब गया । सभी भोग अलोने लगने लगे ।

यही एक चिन्ता क्या मैं भी रुग्ण हो सकता हूँ? क्या एक दिन मैं भी वृद्ध हो जाऊँगा? क्या कभी मुझे भी मरना होगा?

भीषण चिन्ता में डूब गये राज कुमार सिद्धार्थ ।

और तभी एक दिन भ्रमण के समय मुण्डित मस्तक काषाय वस्त्र धारी दिव्यकान्ति एक संन्यासी को देखा कुमार सिद्धार्थ ने राजपथ मे ।

उन्होंने सारथी से पूछा – यह दिव्यकान्ति पुरुष कौन है?

सारथी ने बताया, राजकुमार, वे एक संन्यासी हैं । उन्होंने संसार के सुख भोगों की नश्वरता और व्यर्थता को समझ लिया है तथा उसे त्याग कर परमानन्द की खोज में निकल पड़े हैं ।

राजकुमार सिद्धार्थ की चिन्ता ने अब चिन्तन का रूप ले लिया । वे सोचने लगे क्या जरा, मृत्यु और रोग से बचने का, उनसे छूटने का कोई उपाय नहीं है?

क्या मनुष्य इन सबका क्रीत दास है? क्या यही उसकी नियति है?

नही ऐसा नहीं हो सकता! इनसे छूटने का, इनसे सदैव के लिए मुक्त होने का कोई उपाय अवश्य ही होगा।

चिंतन! गहन चिंतन!! चलता रहा और सभी जानते हैं कि इस चिंतन ने राजकुमार सिद्धार्थ को भगवान बुद्ध बना दिया।

चिंतन सुशृंखल विचार की प्रक्रिया है।

चिंतन विषय के तत्त्व को उद्घाटित एवं प्रकाशित कर देता है।

चिंतन से तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है।

चिंतन चिन्ता से मुक्त कर देता है।

चिंतन आसक्ति और मोह से मुक्त कर देता है।

चिंतन जीवन को दिशा देता है।

चिंतन आत्मा की गहराइयों में उतार देता है।

चिंतन हृदय ग्रन्थियों को खोलने में समर्थ होता है।

चिंतन जीवन को उर्ध्व गति प्रदान करता है।

❖ (क्रमशः) ❖
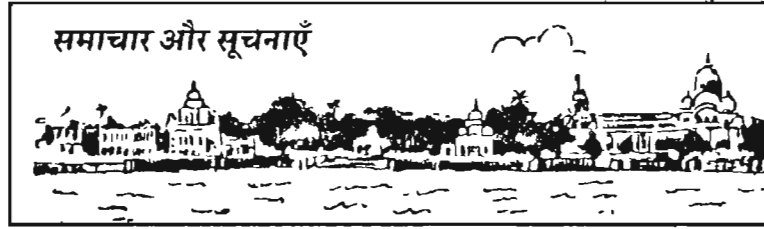
पश्चिमी बंगाल में बाढ़-राहत-कार्य

पिछले सितम्बर में कई दिनों तक हुई घनघोर वर्षा ने बंगाल के कई हिस्सों में बरबादी मचा दी थी, जिससे करोड़ों लोग प्रभावित हुए और लाखों बेघरबार हो गये। रामकृष्ण मिशन के मुख्यालय ने अपने १३ शाखा-केन्द्रों के सहयोग से तत्काल ८ जिलों में राहत कार्य आरम्भ किया। जहाँ जहाँ सम्भव हुआ खिचड़ी पकाकर बाँटी गयी और जहाँ पकाने की सुविधा नहीं थी, वहाँ चिउड़ा, गुड़, डबलरोटी आदि का वितरण किया गया। विवरण इस प्रकार है –

क्र.	शाखा	जिला	राशन	खिचड़ी	रोगी
१.	बेलूड़ मुख्यालय	हुगली, हावड़ा	४१,०४३	६४,१२०	८००
२.	आँटपुर	हुगली	२४,२२०	१४,४९६	---
३.	आसनसोल	बर्धवान	१५,६७३	७६,३९२	---
४.	बरानगर	बीरभूम, हुगली	३४,०००	४९,५००	---
५.	बरासात	उत्तरी २४ परगना	९७,०००	१९५,८००	४,५८०
६.	बेलघरिया	नदिया, उ.२४ परगना	१३६,४२६	३५,१९०	२,२२२
७.	इछापुर	हुगली, मिदनापुर	४५,५००	१६४,१७२	६५४
८.	जयरामबाटी	बाँकुड़ा	१०,८६५	---	---
९.	कामारपुकुर	हुगली	९,८४१	---	
१०.	माल्दा	मुर्शिदाबाद	५१,५९५	---	
११.	मिदनापुर	मिदनापुर	४२,२०८	---	
१२.	नरेन्द्रपुर	मुर्शिदाबाद, नदिया	७५,०००	३०,०००	६,८५६
१३.	रहड़ा	नदिया, २४ परगना	११४,९४८	४,९५५	५,८११
१४.	रामहरीपुर	बाँकुड़ा	६६८	---	
१५.	सारदापीठ	हुगली	८८,४३६	---	---
१६.	सारगाछी	मुर्शिदाबाद	१४,४००	६६,०००	
१७.	सेवा-प्रतिष्ठान	उत्तरी २४ परगना	---	---	२८८
१८.	सिकरा कुलीनग्राम	उत्तरी २४ परगना	१३,४२१	१००,०००	
१९.	टाकी	उत्तरी २४ परगना	१३,५००		
	कुल योग		८२८,२४०	८००,६२५	२१,२११

स्वतंत्रता का वास्तविक तात्पर्य

भैरवदत्त उपाध्याय

स्वतन्त्रता मानव का जन्मसिद्ध अधिकार है। उसका सर्वांगीण विकास स्वतन्त्रता के स्वस्थ वातावरण में होता है। दासता की सोने की जजीरें भी आकर्षित नहीं कर पातीं। गुलामी के मालपुए गले से नीचे नहीं उतरते, अपितु स्वतन्त्रता की घास की रोटी भी सुस्वादु लगती है। मुक्त आकाश में विहार करनेवाला परिन्दा जब सोने के पिंजड़े में बन्द किया जाता है और उसे मेवे खिलाये जाते हैं, तब वह जिस तरह छटपटाता है और मेवों का एक दाना भी नहीं खाता; उसी तरह की अनुभूति गुलाम की होती है। अंग्रेजी में एक कविता में चित्रित किया गया है कि एक दास जो अपने मालिक के अत्याचारों से पीड़ित है, दिन-रात खेत पर काम करता है, फिर भी उसे पेट भर भोजन नहीं मिलता। उसे कोड़ों से मारा जाता है। खेत में पड़ा हुआ स्वप्न देख रहा है कि वह आजाद हो गया है और गाँव में अपने घर पहुँच गया है। वह बेहद खुश है और इसी में बेचारा दम तोड़ देता है। उसकी आत्मा स्वतंत्र हो जाती है। प्राण-पखेरू मुक्त आकाश में उड़ने लगता है।

गुलाम देश की न तो कोई सस्कृति होती है और न भाषा, न इतिहास, धर्म तथा चरित्र ही होता है। उसमें स्वाभिमान, आत्मनिष्ठा, आत्मविश्वास और आत्मचेतना का अभाव होता है। वह तिरस्कृत और अपमानित होता है। इसकी अनुभूति भारतभूमि के अमर शहीदों को हुई थी, जिससे उन्होंने आजादी के दीवाने बनकर हँसते हँसते प्राणों का उत्सर्ग कर दिया था और बलिदानों की कीमत पर प्राप्त स्वतन्त्रता का तोहफा देश की जनता को सौंप दिया। हमें राजनैतिक सफलता मिल गयी।

अब हमें सोचना है कि क्या आजादी की लड़ाई खत्म हो गई? क्या राजनैतिक स्वतत्रता से हमारा समूचा सपना साकार हो गया? क्या गांधी जी की रामराज्य की कल्पना मूर्तिमती हो गई? अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जिन चार स्वतत्रताओं की बात कही थी, उनमें से हमें अभी केवल दो ही स्वतंत्रताएँ मिली हैं। विचार, धर्म, भूख तथा अभाव की स्वतंत्रताओं में से जब हमें १५ अगस्त १९४७ को राजनैतिक स्वतंत्रता हासिल हुई और २६ जनवरी १९५० को संविधान लागू हुआ, तब विचार और धर्म की स्वतंत्रताएँ तो बहाल हो गईं, किन्तु चार चरणोंवाली स्वतंत्रता की कामधेनु के अभी पिछले दो चरण शेष हैं, जिनके बिना वह अधूरी और अपंग है। जिस देश के अधिकांश लोग गरीबी की रेखा के नीचे जीने को मजबूर हों, अशिक्षा जीवन की नियति हो और बेरोजगारी भाग्य की विडम्बना हो, वहाँ भूख और अभावों से मुक्ति असम्भव है। जब तक देश के प्रत्येक नागरिक को भरपेट भोजन नहीं मिलता, हृदय में ज्ञान का दीप प्रज्ज्वलित नहीं होता और जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती, तब तक स्वतत्रता के सूरज की किरणें घर-आगन में नहीं उतर सकतीं। आज हमारे समाज में भय व्याप्त है। मत्स्य-न्याय का विषवृक्ष अपनी जड़ें गहरी जमा चुका है। समाज के प्रत्येक वर्ग में असुरक्षा का भाव है। हिंसा और असत्य का बोलबाला है। राष्ट्रीय चरित्र गिर रहा है। ऐसी दशा में भय से स्वतंत्रता की बात भी आकाश-कुसुम है।

मानवीय मूल्य, सत्य, अहिंसा और स्वार्थ-त्याग की उदार भावनाएँ स्वतत्रता के बिरवे को सींच सकती हैं। भ्रातृत्व, सहिष्णुता, सहानुभूति, सह-अस्तित्व, सहकार, समता और उदारता के अनुष्ठानों से स्वतत्रता को सम्बल मिल सकता है। **ईशावास्यमिदं सर्वम्, मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**। आत्मसन्तोष, ज्ञान और कर्म के समन्वय से भूख तथा अभावों पर विजय पायी जा सकती है। **अदीना स्याम शरदः शतम्, अमृतस्य पुत्राः वयम्, मित्रस्य चक्षुषा पश्येमः, मा कस्यचिद् विद्विषामहै** - आदि महामन्त्रों से स्वतंत्रता की महादेवी का अभिषेक होना चाहिए। स्वतंत्रता के कलश की स्थापना मानवीय संवेदना के धरातल पर होगी। हमें इसी धरातल को बनाना है और मानवीय मूल्य के बीज बोने हैं, ताकि स्वतन्त्रता की फसलें उग सकें और स्वराज्य-स्वप्न पूरा हो सके।
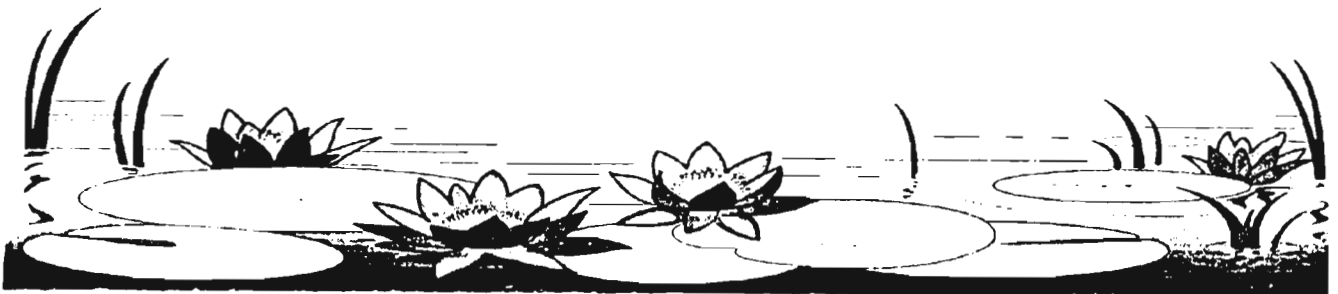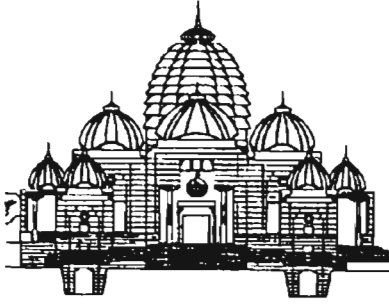
फोन : ४३३५१३२

रामकृष्ण मठ
१३१/१ए, विठ्ठलवाड़ी रोड़,
पुणे - ४११ ०३०

भगवान श्रीरामकृष्णदेव का सार्वभौमिक मन्दिर

हार्दिक अपील

प्रिय मित्रो,

हमारे पुणे के मठ में निर्माणाधीन सार्वभौमिक मन्दिर के विषय में आप अवश्य ही अवगत होंगे। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ उप-महाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी गहनानन्दजी महाराज के हाथों १९९८ ई. की रामनवमी के दिन समारोहपूर्वक इसकी आधारशिला रखी गयी।

हमें यह सूचित करते हुए आनन्द हो रहा है कि नवम्बर १९९९ से इसका वास्तविक निर्माण-कार्य आरम्भ हुआ और दिसम्बर तक इसके लिए आवश्यक खुदाई आदि का कार्य पूरा हो चुका था। आगे का कार्य भी अब पूर्ण गति से चल रहा है और हमें आशा है कि आगामी दो वर्षों में मन्दिर बनकर पूरा हो जायेगा। इस परियोजना की अनुमानित लागत लगभग रु. ३ करोड़ होगी।

मन्दिर के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्य इस प्रकार हैं -

मन्दिर का कुल आयतन	१३५ x ९३ x ८१ फीट
गर्भगृह	२४ x १७ x २१ फीट
अष्टभुजाकार प्रार्थनागृह	२४२२ वर्गफीट (४०० लोगों के बैठने हेतु)
	अष्टभुजाकार ५२ x ५२/ ऊँचाई १४ से २६ फीट तक
तलघर में सभागृह	२४२२ वर्गफीट (४०० लोगों के बैठने हेतु)·
	अष्टभुजाकार ५२ x ५२/ ऊँचाई १२ से १४ फीट तक

हमारा हार्दिक अनुरोध है कि आप भी उदारतापूर्वक दान देकर इस पुनीत कार्य को यथाशीघ्र पूरा करने में सहयोग करें।

आपके शीघ्र उत्तर की आशा तथा शुभ कामनाओं सहित --

प्रभु की सेवा में
स्वामी भौमानन्द
अध्यक्ष

चेक या ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मठ, पुणे' के नाम से बनाकर हमारे पते पर भेजे जाने पर हम उसे सधन्यवाद स्वीकार करेंगे।

विशेष सूचना : हमारा मठ विदेशी मुद्रा में भी दान स्वीकार करने हेतु भारत सरकार द्वारा पंजीकृत है।